सांस्कृतिक भारत

भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक परिशीलन

लेखक
भगवतशरण उपाध्याय

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट : दिल्ली—६

प्रथमावृत्ति

मूल्य
तीन रुपया आठ आना

मुद्रक
बालकृष्ण, एम० ए०
युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, दिल्ली

दो शब्द

'सांस्कृतिक भारत' का विषय नाम से ही स्पष्ट है। अपनी संस्कृति की शक्ति और दूसरी संस्कृतियों के योग से जैसे-जैसे इस देश की सभ्यता विकसी और बढ़ी है, वैसे ही वैसे भिन्न-भिन्न युगों का उसका ब्योरा इसमें दिया गया है। यह सांस्कृतिक इतिहास है और इसमें पाठक राजनीति का इतिहास पाने की आशा न करें। हाँ, यथासम्भव सांस्कृतिक वातावरण को स्पष्ट करने के लिये उसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि जरूर दे दी गई है। आशा है, पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी।

इसकी पाण्डुलिपि तैयार करने में श्री इन्द्रसेन वर्मा एम० ए० ने बड़े मनोयोग से काम किया है, इसके लिये लेखक उनका आभार मानता है।

प्रयाग
२०-४-५५

—भगवतशरण उपाध्याय

अनुक्रमणिका

पहला अध्याय

संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति की परिभाषा कठिन है। उसके सदा गतिमान होने के कारण उसकी सीमाएँ नहीं बाँधी जा सकतीं। इसी से उसकी परिभाषा भी कठिन हो जाती है। संस्कृति और सभ्यता का साधारण तौर से प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में होता है परन्तु शायद उनमें कुछ अन्तर है। यद्यपि वह अन्तर कुछ कृत्रिम ही है। उस अन्तर पर विचार करने से शायद संस्कृति की कुछ परिभाषा भी बन पड़े, इसलिये दोनों के अन्तर और रूप पर तनिक विचार कर लेना कुछ अनुचित न होगा।

सभ्यता का मूल सम्बन्ध 'सभा' से है। सभा में बैठने की समझ रखने वाला या उसमें बैठने वाला सभ्य कहलाता है, और सभ्य का उचित व्यवहार, सभा वाली समझ का व्यवहार, सभ्यता है। परन्तु यह तो व्यक्ति के अकेले के व्यवहार की बात हुई। सभ्यता तो आज सामूहिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगी है। सो कैसे हुआ, यानी कि उसका यह सामूहिक रूप कैसे बना, इस पर पहले विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है।

वास्तविक बात तो यह है कि वह अकेले का वैयक्तिक व्यवहार स्वयं सामूहिक है क्योंकि सभा समूहवाची संज्ञा है। और व्यक्ति का उस समूह के प्रति, जो सभा कहलाती है, व्यवहार अथवा उसके भीतर के व्यक्तियों का सभा की बैठक के समय एक-दूसरे के प्रति या सबके प्रति आचरण सभ्यता की ओर संकेत करता है। इस रूप में यह सारा का सारा सभा-सम्बन्धी व्यापार, चाहे व्यक्ति का हो, चाहे वहाँ के समूचे समूह का, है वह असल में सामूहिक ही।

सभा का रूप भी सच पूछिये तो इसी प्रकार सामूहिक आधार से

ही उठा। बहुत प्राचीन काल में जब अभी आदमी का जीवन जंगली था, ख़ूनी और बर्बर था और जब उसे जंगली जीवों से लोहा लेना होता था, तभी उसके सामूहिक स्वरूप का, उसके सामूहिक व्यापार का, सामूहिक आचार का प्रारम्भ हुआ। प्रकृति ने हाथी को सूंड, शक्ति और वज़न दिये थे, शेर को ताकत, दाढ़ और खूनी पंजे दिये थे, उस नरम-से जीव हिरन तक को सींग दिये थे, पर आदमी को उसने हमले या बचाव के लिये लम्बे नाख़ून तक नहीं दिये। उसे निरी गाय बना दिया और शायद उसके विचार में कुछ ऐसा था कि आदमी हमलावर न हो, लड़ाई-भिड़ाई से अलग रहे। पर हमले और बचाव के साधनों की जगह उसने उसे घुटने दिये कि वह झुक सके, रीढ़ और ऐसी कमर दी कि वह खड़ा हो सके और उससे भी महत्व की बात यह कि उसके हाथ की चार उँगलियों के सामने एक पाँचवाँ अँगूठा कर दिया जिससे वह जो चाहे बना सके, ईजाद कर सके। और इन सब से ऊपर जो प्रकृति ने मनुष्य को दिया, वह था दिमाग़, जिससे न केवल वह आँखों के ज़रिये देखता है, कानों के ज़रिये सुनता है, नाक के ज़रिये सूंघता है, बल्कि जिससे वह सोचता है और नित्य नई योजनाएँ बनाता है, 'प्लान' बनाता है। और उस दिमाग़ और अँगूठे ने क्या किया है और क्या नहीं किया है, यह मनुष्य की खोजों और आविष्कारों का इतिहास है, सभ्यता का इतिहास। यानी कि प्रकृति ने निहत्थे मानव को दिमाग़ और अँगूठे के रूप में कुछ ऐसा दिया कि जिससे अगर वह चाहे, तो बहुत कुछ कर सकता था।

तो जब मनुष्य अभी जंगलों में रहता था, उसने अभी जब खेती न सीखी थी, तब वह शिकारी और मछलीमार का जीवन बिताता था; अपने आप उगे कन्द-मूल-फल खाता था। उसे शिकार के लिये या अपने आप दूसरों का शिकार हो जाने से बचने के लिये, हाथी-शेर-रीछ से बचने के लिये सामूहिक रूप से अनेकों के बीच एका करने की ज़रूरत पड़ी। हाथी अकेला नहीं मारा जा सकता था, न शेर ही और

न दूसरी जगह रहने वाले मनुष्यों का दल ही भगाया जा सकता था, जो जब-तब आदमियों के एक-दूसरे गिरोह पर उसकी फलों भरी, शिकार भरी ज़मीन को छीनने के लिये हमला करता था। इन अनेक प्रकार के कार्यों के लिये, जिनमें अकेले आदमी की ताक़त कुछ काम न कर पाती थी, अनेक लोगों के, एक साथ बसने वाले समूचे गिरोह के एक मन होकर काम करने की आवश्यकता पड़ती थी। वही आदमियों का सामूहिक या दलगत प्रयास था, जो बड़े महत्त्व का था। और जब एक दल के आदमी एक साथ रहने, एक साथ काम करने लगे, एक साथ अपनी रक्षा करने लगे, तभी उनमें एक-दूसरे के प्रति सद्भाव हो जाया करता था। और उन सब में परस्पर आचरण के कुछ नियम अपने आप बन जाया करते थे, जिनकी वह आदि मानव कभी अवहेलना नहीं करता था। इस प्रकार मनुष्य का यह सामूहिक रूप बहुत प्राचीन है, उतना ही प्राचीन जितना उसका बनैला जीवन। क्योंकि आख़िर मनुष्य एक प्रकार के समाज में ही पैदा होता है, चाहे वह समाज माता-पिता नाम के दो व्यक्तियों तक ही सीमित क्यों न हो। और पैदा होने की स्थिति में वह बिल्कुल बेबस होता है, एक अरसे तक, उसे दूसरे जानवरों के विपरीत, औरों पर निर्भर करना पड़ता है। इससे भी, एक मात्रा में दूसरे का मुख देखने के कारण, उसमें प्रत्युपकार की कुछ न कुछ भावना, प्रारम्भ से ही काम करने लगती है।

यह सारी भावनाएँ, आवश्यकताएँ और दल के भीतर जो कुछ निश्चित नियम अनायास बन जाते हैं, उनके प्रति ईमानदारी, सब मिल-कर उस स्थिति का निर्माण करते हैं, जो सभा और सभा-सम्बन्धी आचरण का पूर्वरूप है। इस प्रकार सभा से सभ्य बनता है और सभ्य की उचित आचरित मनोवृत्ति से सभ्यता।

यह तो कथा सभ्यता की हुई, जिसका सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन-काल के आदिम मानव से किया गया है। यानी कि बनैले जीवन से गाँव या गिरोह के सामूहिक जीवन की ओर बढ़ना सभ्यता का विकास है। पर

क्या संस्कृति भी यही है ? लगती कुछ ऐसी ही है, सभ्यता से ही मिलती-जुलती-सी, पर है वह सर्वथा सभ्यता ही नहीं यद्यपि उसका भी इतिहास है, सभ्यता से मिला-जुला इतिहास है, उससे मिलता-जुलता इतिहास है। यहाँ पर संस्कृति शब्द पर भी कुछ विचार कर लेना संस्कृति के स्वरूप को शायद कुछ स्पष्ट कर देगा।

संस्कृति शब्द का प्रयोग प्राचीन नहीं है। संस्कृत में उसका इस अर्थ में तो प्रयोग नहीं ही हुआ है, शायद इस शब्द का ही कभी प्रयोग नहीं हुआ, उन प्राचीन प्रान्तीय भाषाओं तक में नहीं, जिन्हें प्राकृत कहते हैं। इधर हाल में ज़रूर प्रान्तों की साहित्यिक भाषा में इसका प्रयोग होने लगा है और उसी अर्थ में, जिस अर्थ की हम यहाँ परिभाषा और व्याख्या करना चाहते हैं। जिस संस्कार शब्द से संस्कृति शब्द बना है, उसका अर्थ है कच्ची धातु को शुद्ध करना, उससे लगी खान की मैल हटाकर, उसे धो-पोंछ कर, काट-छाँट कर, रगड़ कर, पालिश कर चमका देना। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी आदिम अवस्था में, व्यक्ति और सामूहिक दोनों रूपों में, संस्कारहीन रहा है और धीरे-धीरे अपने ऊपर प्रतिबन्ध लगाकर अनुचित को दबाकर, उचित को लेकर ही सुन्दर बना है। व्यक्ति रूप में शरीर-मन को शुद्ध कर, एक ओर व्यक्तिगत विकास, दूसरी ओर उसका समूह में शिष्ट आचरण, समाज के प्रति उचित व्यापार, उसे संस्कृत बनाता है। प्राचीन भारत के वर्ण-धर्म में—द्विज-धर्म में—संस्कार की बड़ी महिमा थी, क्योंकि द्विज संस्कारों द्वारा ही अपने वर्ण में सही-सही प्रवेश करता था। वह द्विज कहलाता ही इस कारण था कि एक बार माता के गर्भ से जन्म लेकर, दूसरी बार संस्कारों से पवित्र होकर वह द्विजन्मा होता था। उसी तरह जैसे पक्षी द्विज कहलाता है, एक बार अण्डे के रूप में जन्म लेकर, दूसरी बार अंडे से पक्षी बन कर।

यह संस्कार दो प्रकार का होता है। एक तो वैयक्तिक, जिसमें मनुष्य अपने गुणों से, अपनी सुघराई से, अपनी शिष्टता से चमकता है,

दूसरा सामूहिक जो समाज में समाज-विरोधी आचरण का प्रतिकार करता है। सभ्यता की एक स्थिति में पहुँच कर, समाज के विकास की मंज़िलें कुछ सर करने के बाद, सामूहिक विरासत का व्यक्ति और उसका समाज धनी हो जाता है। उसके कर्मठ जनों का कर्तृत्व, वीर-कार्य, तप और त्याग, सेवा और आविष्कार सब मिल कर एक शालीन और गौरवान्वित अतीत का, नये-पुराने आदर्शों का सृजन करते हैं, जिन पर उस दल के मानवों को गर्व और विश्वास हो आता है। समान धर्म, समान विश्वास, समान विचार, समान कर्म-कांड, समान आचरण, समान भाषा, समान साहित्य, समान दर्शन, समान भूमि, समान वैर और मैत्री और समान ख़तरा संस्कृति को एकरूपता और स्वरूप देते हैं। इनमें विश्वास करने वालों, रहने और समान रूप से अनुकूल आचरण करने वालों की संस्कृति समान कहलाती है।

प्रगट है कि संस्कृति धीरे-धीरे विकसित होती हुई एक कृत्रिम, पर अनिवार्य स्थिति है, जो प्राकृतिक न होकर भी धीरे-धीरे निरन्तर विकसित होती परिस्थितियों के प्रति प्रकृत (स्वाभाविक) हो जाती है। यूरोपीय भाषाओं में संस्कृति के लिये जिस शब्द का व्यवहार होता है, उसका अंग्रेज़ी नाम 'कल्चर' है। शब्द कल्चर में उसी कृत्रिमता का एक मात्रा में समावेश है, जिसकी ओर ऊपर अभी संकेत किया जा चुका है। 'कल्चर-मोती' होते हैं, बनाए हुए मोती, जैसे बनाई हुई ज़मीन के लिये उसी आधार से बनी 'कल्टिवेटेड' क्रियापद का व्यवहार होता है।

तात्पर्य यह है कि जो प्रकृतसिद्ध नहीं, मानवनिर्मित है और जिसे मनुष्य अपनी कायिक-मानसिक आवश्यकताओं के लिये बनाता या विकसित करता है, वही संस्कृति है। और वही उसकी कच्ची धातु या सद्यःप्राप्त मैली मणि की-सी आदिम अवस्था की बर्बरता, रुखाई आदि को नष्ट कर उसमें नया निखार और सुथरापन लाती है। कुछ काल बाद उसके नये आचार-विचार उससे इतने बँध जाते हैं कि वे स्वयं प्रकृतिसिद्ध-से हो जाते हैं, प्राकृतिक से भी अधिक महत्त्व के, जिनके लिये मनुष्य तप,

त्याग और क़ुर्बानियाँ करता है और जिनके बिना उसका जीवन नीरस और शून्य हो जाता है।

फिर सभ्यता और संस्कृति में अन्तर क्या है? यह आरम्भ में ही समझ लेना चाहिये कि दोनों में विशेष अन्तर है नहीं और यदि एक का दूसरे के लिये प्रयोग हो तो वह प्रयोग चल भी जाता है, चल सकता है। वस्तुतः अन्तर पारिभाषिक और निरुक्तपरक है। साधारण तरह से दोनों में अन्तर करना एक प्रकार की कृत्रिमता ही होगी, फिर भी एक दृष्टि से वह अन्तर इस प्रकार होगा। सभ्यता धीरे-धीरे बनैले जीवन से हट कर समाज की ओर बढ़ने की स्थिति है। खोज और आविष्कार उसके विकास की मंज़िलें हैं। भटकते मानव का जंगल की दया और बर्बर आखेट से ऊपर उठ, अपने आप पेड़ लगा कर फल पैदा करना, खेत जोत कर अन्न उगाना, बनैले जानवरों को पाल कर मवेशी बना उनके दूध आदि का उपयोग करना—सभ्यता की मंज़िलें हैं। साल-भर के बाद वही पेड़ फिर फूलें-फलेंगे, लौटती ऋतु और विशेष अवधि पर वही खेत नई फ़स्ल के ज़रिये नये अन्न देंगे, यह स्वयं बड़े महत्त्व की खोज की बुनियाद है, क्योंकि वह वार्षिक कलेण्डर (पंचांग) का आरम्भ करती है। कच्चे माँस या अन्न को राँध कर खाने से उसका स्वाद बदल और बढ़ जाता है, यह खेती के पहले की ही खोज स्वयं कुछ कम महत्त्व की नहीं। यह आदिम मनुष्य के आग का प्रयोग शुरू करने की सूचना है। नमक का इस्तेमाल उसी प्रकार आग की खोज के बाद हुआ और वह स्वयं कुछ मामूली खोज न थी; क्योंकि उसने सारी मानव-जाति की आहार-पद्धति को नया स्वाद दिया है। बहुत पीछे, ऐतिहासिक काल में, दक्षिणी भारत के निवासियों का मलय के जंगलों के गर्म मसालों को खोज कर भोजन में उनका प्रयोग करना भी उसी प्रकार एक बड़ी बात थी, इतनी बड़ी कि उसने न केवल संसार की भोजन-पद्धति को बदला बल्कि काली मिर्च एक बार रोम नगर की रक्षा की क़ीमत बन गई! संसार के आविष्कारों में पहला शायद बैलगाड़ी का आविष्कार था। तब

के मानव का यह खोज निकालना कि गोल पहिया ही चिपटी भूमि पर दौड़ सकता है, बड़े महत्त्व का था और उसने उस काल के सामाजिक-जीवन में क्रान्ति उपस्थित कर दी। एक जगह अधिक उपजाए हुए अन्न, फल आदि दूसरी जगह बड़ी आसानी से पहियों से बनी बैलगाड़ी में ले जाये जा सकते थे। उससे भी महत्व की बात उस पहिये का बर्तन बनाने के उपयोग में थी। हाथ से बने भोंडे बर्तनों की जगह अब एक से एक सुन्दर बर्तन, जो आज इस कला की उन्नत स्थिति में भी सुन्दर कहे जा सकते हैं, कुम्हार के उस चाक से बनने लगे। तो यह विकास की मंज़िलें—पशु-पालन, खेती और नमक की खोज—सभ्यता की हैं, जो बनैले जीवन से आदमी को समाज के बसे जीवन की ओर ले जाती हैं। और उस दिशा में बढ़ते हुए हम आदिम अवस्था से जितनी ही दूर सामाजिकता की ओर बढ़ते हैं, उतने ही सभ्य कहलाते हैं।

संस्कृति, जिस रूप में हम उसे आज मानने लगे हैं, इन विकास की मंज़िलों की ओर उतना संकेत न कर अधिकतर उन सूक्ष्म तत्वों से सम्पर्क रखती है जो विचार, विश्वास, रुचि, कला, आदर्श आदि की दुनिया है और जिसकी ओर हम पहले इशारा कर आए हैं। कुछ लोगों का विचार है कि शायद संस्कृति सभ्यता के विकसित हो जाने पर बनी। पर है ऐसा नहीं। वे सूक्ष्म विचार भी, रुचि का निखार भी, कला के प्रति आकर्षण भी, किसी न किसी मात्रा में सभ्यता के स्थूल उपकरणों के साथ ही साथ बनते आये।

शिकार से बचे समय में, अवकाश के समय, जब अपने पत्थर के हथियारों की मूँठ पर बर्बर मनुष्य रेखायें और आकृतियाँ खींच कर उन्हें आकर्षक बना देता था, तब संस्कृति का रूप सिरजता था। जब वध्य-जन्तुओं के टोने-टोटके के लिये आदमी अपनी गुफा की दीवार पर उनका चित्र खींच रेखाओं में रंग भरता था, तब वह कला की दिशा में प्रयास करता था। जब वह अपने स्वर को उल्लास की स्थिति में, आनन्द के अतिरेक में, अनजाने गा उठता था और बार-बार गाने के स्वर को एक

ही प्रकार से दोहराता और उत्तरोत्तर मधुर बनाता जाता था, तब वह संगीत की भूमि पर डग भरता था। जब वह हाथ या चाक से मटका बनाकर उस पर फूल-पौधे, साँप आदि की आकृतियाँ बनाता या रेखाओं को विशेष शैली में बाँट कर, उन्हें रंग देकर, मटके को चित्रित करता था, तब वह सौन्दर्य और रस को रूपायित करता था। जब बुनते हुए वस्त्र में वह रंग की धारियाँ डालता और उसमें अनेक डिज़ाइनें बनाता था, तब वह सभ्यता से परे संस्कृति की रुचिर भूमि पर पदार्पण करता था। ये इकाइयाँ साधारणतः सभ्यता की नहीं संस्कृति की हैं।

इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति एक ही मानव-विकास के दो पहलू, एक—सभ्यता—उसकी स्थूल और आविष्कार की दिशा की ओर संकेत करता है, दूसरा—संस्कृति—उस विकास के चिन्तित, सुन्दर, शालीन सूक्ष्म तत्वों की ओर। सभ्यता आदिम बनैली स्थिति से सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति का नाम है, संस्कृति उसी प्रगति की सत्य, शिव और सुन्दर रुचिर परम्परा का। हम इस संस्कृति के इतिहास में सभ्यता का भी समावेश करते हैं।

सभ्यता और संस्कृति दोनों, मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा और विजय के परिणाम हैं, दोनों मानव-जाति की सम्मिलित विरासत हैं। वे सबको सबकी देन हैं। परस्पर वैरी जातियाँ भी एक दूसरी से कुछ सीखतीं और एक दूसरी को कुछ देती हैं। शत्रु-जाति की 'खोज' कभी इसलिये नहीं त्याग दी जाती कि उसे शत्रु ने खोजा है, बल्कि वही नई खोज की बुनियाद बन जाती है। गणित, विज्ञान आदि इसके प्रबल साक्षी हैं। एक जाति ने दूसरी को लड़ कर मिटा दिया पर उसकी खोजों को, उसकी सभ्यता और संस्कृति को वह न मिटा सकी, उलटे उनको उसने स्वीकार कर अनेक बार अपने आचरण का आदर्श बना लिया।

भूमि और काल का कोई बिन्दु नहीं, जहाँ खड़ा होकर कोई कह सके कि इसके बाद ऐसा कुछ नहीं जिसका मेरे ऊपर कुछ प्रभाव हो। वस्तुतः सब सब से सीखते हैं, सबका सबके ऊपर प्रभाव है। हाँ, यह सही है कि

प्रत्येक जाति और देश की अपनी-अपनी समझ होती है; रुचि और *विश्वास होते हैं, जिनके अनुकूल वह अपनी संस्कृति का रूप बनाती है, जो भिन्न जातियों और देशों की संस्कृति से दूसरे प्रकार की लगती है* और इसी कारण एक संस्कृति भी दूसरी संस्कृति से भिन्न दिखाई पड़ती है। परन्तु निश्चय सभी संस्कृतियां एक दूसरी से प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ, भारत की वर्ण-व्यवस्था, प्राचीन ग्रीकों का शरीर-गठन, प्राचीन रोमनों का न्याय-वितरण और सैन्य-विनय इन संस्कृतियों की अपनी-अपनी विशेषता थी।

भारतीय संस्कृति की विशेषता उसके आचारपूत स्वच्छन्द चिन्तन, सत्य की खोज और अहिंसा रही है। बार-बार उसके महात्माओं ने उसकी इस विशेषता को ध्वनित किया है और बार-बार उसके लिये क़ुर्बानियाँ की हैं। उस विशेषता को उन्होंने अपने तप और त्याग से रूप दिया। ऐसा नहीं कि इस देश में युद्ध न हुए हों, फिर भी शान्ति का पलड़ा यहाँ भारी रहा है और युद्ध के अवसर पर भी यहाँ के चिन्तकों ने शान्ति की सीख दी है। बिना कायर हुए उन्होंने युद्ध के बदले शान्ति दी है। क्रोध के बदले प्रेम और हिंसा के बदले दया दी है। ग्रीक देशों से सिकन्दर तलवार लेकर आया था, बदले में अशोक ने ग्रीक देशों में दवाएँ बँटवा दीं। हूणों ने भारत पर आक्रमण कर गुप्त साम्राज्य तोड़ दिया और यहाँ के निवासियों के साथ बड़ा क्रूर व्यवहार किया। ठीक तभी इस देश के बौद्ध पंडित राह की हज़ार मुसीबतें झेलते, पहाड़, जंगल और रेगिस्तान लाँघ, चीन पहुँचे और वहाँ हूणों के अपने प्रान्त 'कान्सू' में सैकड़ों गुफाएँ खोद उनकी दीवारों पर अजन्ता की तरह बुद्ध के जीवन की घटनाएँ चित्रित कर, वहाँ उनके प्रेम का सन्देश लोगों को सुनाया।

इसी विचार से हमारे वेद और उपनिषद् भी शान्ति, कल्याण और भाईचारे का सन्देश देते हैं। ऋग्वेद (मण्डल ७, सूत्र ३५) का मन्त्र है—

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ।। शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ।। अहानि शं भवन्तु नः शां रात्रीः प्रतिधीयताम् ।।

"विशाल नेत्रोंवाला सूर्य हमारे लिये कल्याणमय उगे ! चारों दिशाएँ हमारे लिये कल्याणकारिणी हों ! अटल पर्वत और जलभरी नदियाँ हमारे लिये शुभमय हों ! हमारे दो पैरों और चार पैरों वाले सभी प्राणियों का कल्याण हो ! वायु कल्याणमय बहे, सूर्य कल्याणमय तपे, गरजते बादल कल्याण बरसें ! दिन और रातें हमारे लिये कल्याणकर हों।"

यजुर्वेद (अध्याय ३६, मंत्र १८) उसी प्रकार सब ओर से शान्ति की कामना करता है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।

"आकाश शान्तिमय हो, समूचा आकाश शान्तिमय हो, पृथ्वी शान्तिमय हो, जल शान्तिमय हो, तरुलताएँ शान्तिमय हों। बड़े-छोटे वृक्ष और वन शान्तिमय हों, विश्व के सारे देवता शान्तिमय हों, ब्रह्म शान्तिमय हो, सब कुछ शान्तिमय हो, शान्ति ही शान्ति हो, मैं स्वयं उस शान्ति का भागी बनूं !"

तैत्तिरीय उपनिषद् (१, १, १) की भाईचारे की आवाज़ में गज़ब का ओज है—

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः !

"हम सब एक साथ अपनी रक्षा करें, साथ ही मिलजुल कर आहार करें, मिलजुल कर परिश्रम, उद्योग-धन्धे और वीरता के कार्य करें ! हमारा ज्ञानोपार्जन तेज से भरा हो ! हम कभी एक दूसरे के प्रति द्वेष न करें, वैर-भाव न रखें ! शान्ति हो ! शान्ति हो ! शान्ति हो !"

दूसरा अध्याय

आर्यों से पहले

पाषाण-काल

आज से करीब २५००० वर्ष पहले इस देश का मानव गुफाओं में रहता था। वह खेती करना नहीं जानता था, मिट्टी के बर्तन न बना पाता था। शिकार करके, मछली मारकर या अपने आप उगने वाले कंद-मूल-फल खाकर वह पेट पाल लेता था। आग का इस्तेमाल भी वह न जानता था और मारे हुए जानवरों का माँस वह कच्चा ही खा जाया करता था। शिकार या खूँख़ार जानवरों से अपनी रक्षा के लिये उसके पास पत्थर के हथियार थे; छिले-रगड़े पत्थर के हथियार, भद्दे और भोंडे, पर सभी प्रकार के—फरसे, बाण, भाले, काटने और छेदनेवाली छुरियाँ, फेंकने के बड़े-बड़े गोल पत्थर, हथौड़े। यह हथियार जब-तब हड्डी और लकड़ी के भी बनते थे, पर हड्डी और लकड़ी जल्दी नष्ट हो जाती है इसलिये उनसे बने हथियार अब नहीं मिलते। हाँ, पत्थर वाले हथियार ज़रूर मिर्ज़ापुर के आस-पास, मध्यभारत और मद्रास के ज़िलों में मिले हैं। अपने पत्थर के हरबे, हथियारों के कारण ही उनका इस्तेमाल करनेवाले पाषाण-काल के आदमी कहलाते थे।

उस काल के आदमी अपने मृतकों की समाधि या कब्र नहीं बनाते थे, न उनको जलाते ही थे, बल्कि उन्हें वे जहाँ का तहाँ छोड़ दिया करते थे और जानवर-पक्षी आदि उन्हें खा लिया करते थे। वे लोग पहाड़ों की गुफाओं में, पेड़ों आदि पर रहते थे, नंगे। उनका जीवन बर्बर था, खूनी। वे आपस में भी लड़ते थे और जानवरों से भी। पर

बड़े जानवरों के शिकार या उनसे अपनी रक्षा के लिये आपस में वे एका कर लिया करते थे। वे सभ्यता की पहली मंज़िल थे, जो अब बोलना धीरे-धीरे सीख चुके थे और अपने दल को आवाज़ देकर ख़तरे के समय इकट्ठा कर सकते थे।

पत्थर के हथियार इस्तेमाल करने वाले प्राचीन मानव के भी दो दल थे। उनमें से एक तो बहुत पहले हुआ, आज से कोई २५,००० वर्ष पहले, और दूसरा आज से १०,००० वर्ष पहले। पहले दल के लोगों का युग पूर्व-पाषाण-काल कहलाता है, दूसरे दल के लोगों का उत्तर-पाषाण-काल। उत्तर-पाषाण-काल के आदमी भी पत्थर के ही हथियारों का इस्तेमाल करते थे। पर अपने हथियारों को वे रगड़ कर चिकना कर लेते थे, उन पर एक प्रकार की पालिश कर लेते थे। पहले के भद्दे और कुन्द हथियार अब उनकी चतुराई से तेज़ और सुन्दर बन गये। इन्हीं उत्तर-पाषाण-युग के मनुष्यों ने सभ्यता की दूसरी मंज़िल तै की। परन्तु ठीक पता नहीं चलता कि ये नयी सभ्यता के बनाने वाले लोग पुराने पाषाण-युग के ही लोग थे, जो अब तक चतुर हो गये थे, या कहीं बाहर से आकर इस देश में बसे थे।

उत्तर-पाषाण-काल के मनुष्यों ने अपने रहन-सहन में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी, अपने रहने-सहने का उन्होंने रूप ही बदल दिया। हथियार तो वे तेज़, चिकने और सुन्दर बनाने लगे थे, उनकी मूंठें भी फ़ुरसत के समय वे अपने आस-पास के जानवरों और फूल-पत्तियों के चित्रों से सँवार लेते। अपनी गुफा की दीवारें भी वे खाली और उदास न रहने देते; उनपर भी वे कितने ही प्रकार के चित्र बनाते। अधिकतर ये चित्र उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाले थे, उनके शिकार और विश्वास के चित्र। उनका विश्वास था कि अगर शिकार के जानवरों की तस्वीर खींच कर, उनका बाणों और भालों से बेधा जाना दिखाया जाए, तो वे अपने शिकार में विजयी होंगे और शिकार के जानवरों पर एक प्रकार का जादू चल जायेगा। ये चित्र टोना-टोटका या जादू का असर पैदा

करने के लिये वे अपनी गुफा की दीवारों पर बनाते थे। निश्चय, अवकाश के समय उन चित्रों को देख कर उन्हें सुख भी मिलता था और शायद जब-तब उनकी त्रुटियाँ भी सुधार दिया करते थे। और अपने इस कार्य में वे अकेले न थे। एशिया के दूसरे मुल्कों में, यूरोप में भी उन्हीं के-से आदमी पत्थर के हथियार लिये अपनी सभ्यता की मंज़िलें तै कर रहे थे। यूरोप के स्पेन और दक्खिनी फ्रांस की अनेक गुफाओं में इसी प्रकार के शिकार के चित्र मिले हैं, जो वहाँ के पाषाण-युग के लोगों ने बनाये थे।

इस नये या उत्तर-पाषाण-काल के लोग बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने प्राकृतिक गुफ़ाओं के अलावा फूस के झोंपड़े भी बनाए। काली मिट्टी से पोत कर वे उन्हें बरसात में भी रहने लायक बना लेते थे। आग का पता अब उन्होंने पा लिया था और वे भोजन राँध कर खाने लगे थे। संसार की यह बहुत बड़ी खोज थी और इसीलिये सभी पुरानी जातियों की अपनी-अपनी कहानियाँ बन गई हैं कि किस प्रकार गरुड़-पक्षी या कोई महान् वीर आग लाने के लिये सूरज तक उड़ गया था।

शिकार अब भी किया जाता था। मछली भी मारी जाती थी। बल्कि मछली मारने के लिये लोग लकड़ियों को जोड़ कर उनको नदी में बहा और उन पर बैठ कर दूर-दूर तक मछली मारने की सुविधा के लिये चले जाते थे। अब वे बनैले जानवरों को—गाय, साँड, भेड़, बकरी, पक्षी आदि परचा-परचा कर पालने भी लगे थे, जिससे इनके खाने-पीने में और सुविधा हो गई। जंगल की पैदावार—कन्द, मूल, फल—तो उनके काम पहले से ही आती थी, अब वे खेत में अपनी मिहनत से अन्न भी उपजाने लगे थे, जिसे वे राँध कर खाते थे और जिसको अधिक रुचिकर बनाने के लिये वे जंगल से शहद भी ले लेते थे। यह कहना कठिन है कि वे नमक का इस्तेमाल जानते थे या नहीं; शायद नहीं जानते थे।

अब वे अपना तन ढकने लगे थे। आचार के उदय की वह पहली

मंज़िल थी। बाइबिल में लिखा है कि आदमी को भगवान् ने स्वर्ग के बगीचे के सारे फल दिये पर एक ज्ञान का फल न दिया, जिसको खा लेने पर शायद आदमी अपने ज्ञान के घमण्ड में भगवान् की सत्ता ही भूल जाता। और जब उसने किसी प्रकार वह ज्ञान का फल चख लिया तब उसने अपने चारों ओर देखा, फिर अपनी ओर देखा और अपने को नंगा देख वह शर्म से गड़ गया। उत्तर-पाषाण-युग के आदमी ने भी, लगता है, ज्ञान के फल का स्वाद पा लिया था और वह स्वाद उसने किसी शैतान या साँप के बरगलाने से नहीं बल्कि अपनी सूझ से, अपनी चतुराई से पाया था। और उसने अपना तन ढक लिया—पत्तों से, पेड़ों की छाल से, मारे हुए जानवरों की खाल से।

अब वह बर्तन भी बनाने लगा था। बर्तन सभ्यता की बढ़ी हुई दशा की पहचान है। जब आदमी के पास खा-पी चुकने के बाद खाने-पीने की चीज़ सारी की सारी चुक नहीं जाती, कुछ बच भी रहती है, तब बची हुई को जोगा रखने के लिये बर्तन की जरूरत होती है। जब पशु-पालन और कृषि-कर्म शुरू हुए, मवेशी पाले जाने लगे, खेत में अन्न उपजाया जाने लगा, तब बचे हुए दूध और अन्न आदि को रखने के लिये उस काल के आदमी ने बर्तन बना डाला। पहले उसने गीली मिट्टी को हाथ से ही सँवार कर भाँडे बनाए, खाने के लिये प्लेटें बनाईं, क्योंकि अब पत्तों के दोने में पानी पीने से वह ऊब उठा था और उस अंगूठे और दिमाग का इस्तेमाल वह जान गया था, जिन्हें प्रकृति ने उसे दिया था।

बर्तन पहले उसने, जैसा अभी कहा जा चुका है, हाथ से बनाए फिर चाक पर। और इस चाक की बात आदमी के उस दिमाग की खूबी की याद दिला देती है जो केवल आदमी की थी, खूँखार जानवरों के बीच रहने वाले उनके निहत्थे राजा की। चाक का सम्बन्ध पहिये की खोज से था, गोल पहिये की खोज से। आदमी ने एक दिन जान लिया कि केवल गोल पहिया ही चिपटी ज़मीन पर दौड़ सकता है और उसने वह गोल पहिया बना डाला जिसने उसकी ज़िन्दगी को, उसके रहने-सहने के

तौर-तरीकों को बदल दिया। पहिए की गाड़ी बनी जो बचा हुआ अन्न, साग-सब्जी और ऐसी बहुत सारी काम की चीज़ें एक जगह से दूसरी जगह ले जाने लगी। गाड़ी गति की वह पहली मंज़िल थी, हवाई जहाज़ की उड़ान जिसकी आख़िरी है, और उन दोनों के बीच धीरे और तेज़ चलने वाली अनेक चीज़ें हैं—रथ, इक्के, तांगे, साइकिल, नाव, जहाज़, रेल, मोटर आदि। पर गाड़ी सबके सोत पर खड़ी है।

तो बर्तन चाक से उतार लिये गये और उनको रंग कर उनके ऊपर भांति-भांति के चित्र बनाकर उन्हें सुन्दर कर लिया गया। जब माल बर्तनों और बखारों में रखा जाने लगा, तब उसके चोर भी पैदा हो गये, क्योंकि चोरी उसी चीज़ की हो सकती थी जो इस्तेमाल से बच रहती। अभी व्यभिचार न था क्योंकि विवाह न था। अभी एक औरत का एक मर्द न हुआ था, एक मर्द की एक बीवी न हुई थी, जिससे पाप का किसी तरह का डर न था। पर हाँ, इसी कारण समाज के आचार भी न बने थे—माँ, बहन, चाची, आदि के सम्बन्ध लोग अभी समझ न पाये थे। ज़मीन सबकी एक थी, चारागाह सबके एक थे। उनकी चोरी तो न हो पाती थी पर मटकों और बखारों से गन्दे, कायर और काहिल क़िस्म के लोग आँख बचाकर चीजें चुरा सकते थे। यह चाक और गोल पहिये की खोज और आविष्कार का ही फल था। पर निश्चय उनका लाभ बड़ा था, उनसे हानि लाभ के मुकाबले कुछ नहीं थी।

अब इस काल के लोग अपने मृतक जानवरों और पक्षियों के सामने फेंकते भी नहीं थे, उनको दफ़नाते और उनकी क़ब्र पर समाधियाँ भी खड़ी करते थे। कुछ लोग तभी अपने मृतकों को जलाने भी लगे थे। शायद मर गये पूर्वजों की पूजा भी तभी शुरू हो गई थी क्योंकि उनके लिये यह समझना कठिन था कि जो चीज़ अभी थी और उनके प्यार और दर्द में जो उन्हें घेरे-घेरे फिरती थी, वह सहसा ग़ायब कैसे हो गई, ग़ायब हो कैसे सकती थी? उन्हें लगता था, जैसे वे कहीं हवा में हैं और

वे कई प्रकार से उनको खिला-पिला कर प्रसन्न और सन्तुष्ट करने लगे। जो अपने आप खाते थे उनको चढ़ाने लगे, पशुओं और आदमी की बलि तक देने लगे। पितरों की पूजा इस तरह अब शुरू हो गई।

साँप हल्के से आता था। आदमी को डँस देता था, आदमी तड़प कर मर जाता था। साँप की ताक़त में लोगों की श्रद्धा जगी और लोग उसे पूजने लगे। नाग पूजा शुरू हो गई। पेड़-पौधों को लोग बढ़ते देखते थे, डालियाँ-टहनियाँ फेंक-फेंक कर फैलते, झरनों को आवाज़ के साथ गिरते देखते थे, नदी को बहते देखते थे,। इन सबमें उनको गति का भान होता था—पेड़ों में, झरनों में, नदियों में—और वे उन्हें भी पूजने लगे। ये चीज़ें तो कुछ ऐसी थीं, जिनमें उनको गति का बोध होता था पर ऐसा नहीं कि सूने ने उन पाषाण-युग के लोगों से अपना भाग न पाया हो। पत्थर चट्टानों की परतों के साथ भीमकाय पहाड़ों के रूप में खड़ा था, पत्थर जिससे टकराकर बाण और भाले टूट जाते थे, जिनसे टकराकर उनके अपने भी अंग लहूलुहान हो जाते थे; जिनसे लोग हमला करने और अपने को बचाने के लिये और भांति-भांति के अपने दूसरे कामों के लिये हथियार बनाते थे, निश्चय उनका देवता था और वे उसे भी पूजने लगे। वृक्ष, नदी, नाग, पत्थर सभी पूजे जाने लगे। पूजा की अनेक विधियाँ चल पडीं क्योंकि हर देवता की पूजा की भिन्न-भिन्न विधियाँ थीं और उन विधियों की जानकारी भी सबके बस की बात नहीं थी। पर जो उन्हें जान पाता था, देवताओं से सम्बन्ध रखने वाला, उनके क्रोध-प्यार समझाने वाला, उचित विधि की पूजा से उन्हें प्रसन्न करने वाला, रहस्यमय भेद-भरा साधारण आदमियों से भिन्न माना जाने लगा। उसकी शक्ति बढ़ी। अज्ञानवश लोग उससे डरने लगे और वह धीरे-धीरे उनकी जान-माल का स्वामी तक बन गया। वह संसार का पहला पुरोहित था। धीरे-धीरे अनेक जगहों में वह राजा भी बन चला। पुरोहित का अर्थ होता है, पुर या गाँव का हित करने वाला। तब का पुरोहित गाँव का, इकट्ठा रहने वालों का इतना हित नहीं करता था

जितना उनके अज्ञान का लाभ उठाता था।

धातु-काल

पाषाण-काल के पिछले युग के लोगों ही ने धातुओं का मर्म भी जान लिया था, पर बहुत पीछे; बर्तन आदि बना लेने के बहुत दिनों बाद। उन्होंने भी अपने नये ज़माने में सूत और ऊन के शायद कपड़े भी बनाए। पर अपने नये युग में उन्होंने जो धातुओं का भेद पा लिया, वह सभ्यता के इतिहास में ग़ज़ब की बात थी। आज का युग धातु का ही युग है और हम जानते हैं कि सोने, चाँदी, ताँबे, लोहे के बिना आज का हमारा जीवन कितना सूना और अपूर्ण हो जायेगा। लोहे को छोड़ बाकी तीनों धातुओं की खोज उन्होंने की और अब वे पत्थर से कम, धातुओं से अधिक काम लेने लगे। उन्हीं के अपने हथियार बनाने लगे। सोना गहने बनाने के काम आता था, शेष धातुएँ हथियार बनाने के। पाषाण युग का वह पिछला काल ताँबे का युग भी कहलाता है क्योंकि हथियार आदि उस समय ताँबे के ही अधिकतर बनने लगे थे। इन धातुओं के अतिरिक्त कुछ-एक ऐसी धातुओं का भी उस काल के लोगों ने इस्तेमाल किया जो मिश्रित थीं, कांसे का इस्तेमाल तभी शुरू हुआ था, जिसमें एक अंश टिन का और नौ अंश ताँबे के होते थे। नया युग अब ताम्र-युग कहलाया।

यह है पाषाण-युग के मनुष्य की कहानी। हमारी सभ्यता की बुनियाद उसी ने डाली। अपने आप तो ख़ूनी-जानवरों के पंजे उन्होंने अपने सीने पर लिये पर हमें वे अपने अनुभव, सूझ और खोज की विरासत दे गये। उन्होंने हमें ऋतुओं का ज्ञान दिया, एक प्रकार का बगैर लिखा कलेंडर, जिससे कि तब के लोगों ने जाना कि वर्ष के विशेष महीनों में फलां फूल फूलते हैं, और जिनसे शहद निकलता है, फलाँ अन्न होते हैं, नदियाँ उमड़ चलती हैं, मैदानों को नई उपजाऊ मिट्टी से भर देती हैं। उन्होंने हमें खेती दी, लकड़ी के फाल वाले हल दिये, अन्न दिये। यह उनके लिये कुछ कम गौरव की बात नहीं कि आज जितने प्रकार के

अन्न हम खा रहे हैं, उत्तर-पाषाण-काल के लोगों ने प्रायः उन सबकी खोज कर ली थी। उन्होंने हमें तन ढकने के लिये वस्त्र दिये, बर्तन और गाड़ी दी, खेती के साथ मवेशी दिये और उनसे पहले, आग दी और उनसे पीछे शायद नमक का स्वाद भी दिया, जिससे हमारा आहार अधिक रुचिकर हो गया। फिर सब से पीछे उन्होंने हमें धातुएँ दीं—सोना, चाँदी, ताँबा, टिन, काँसा और पीतल। लोहा उनके बहुत पीछे दुनियाँ के इस्तेमाल में आया। कला की भी उन्होंने बुनियाद रखी और अपनी सुरुचि के साधक चित्र गुफाओं में हमारी जानकारी के लिये वे अचानक छोड़ गये। उनके हम बड़े ऋणी हैं।

सिन्धु-सभ्यता

आर्यों के आने से पहले इस देश में एक जाति बसती थी, जिसका नाम था द्राविड़। कहना कठिन है कि वे भी कहीं बाहर से ही आये या इस देश के ही रहने वाले थे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे उन्हीं पाषाण-युग के आदमियों की सन्तान थे या किसी दूसरी नस्ल के आदमी। इतना निश्चय सही है कि उनकी सभ्यता काफ़ी बढ़ी-चढ़ी थी। मिट्टी के बर्तन ये पिछले पाषाण-काल के लोगों से बहुत अच्छे बनाते थे। फ़सलें उगाते समय वे सिंचाई का उपयोग करते थे और नदियों का बहाव तक उस काम के लिये वे जब-तब रोक लिया करते थे। इस तरह नदियों को बाँध कर झील बनाने वाली संसार की पहली जाति द्राविड़ ही थी। उन्होंने अच्छे-भले घर बनाए, गाँव बसाए, और उन गाँवों को रक्षा के लिये मिट्टी के परकोटों से घेर दिया। वे अनेक देवताओं की पूजा करते थे। उनकी कुछ जातियों में पिता की जगह माँ परिवार की स्वामिनी होती थी। असल में यह बड़ी पुरानी रीति का ही सिलसिला था क्योंकि बहुत पहले, सभ्यता के आरम्भ से भी पहले, समाज मातृसत्तात्मक था। यानी घर की मालकिन माँ थी, बापनहीं और धीरे-धीरे हज़ारों-हज़ारों वर्ष बाद बाप माँ की जगह ले सका। वह व्यवस्था तो साधारण तौर से ख़त्म हो गई, पर आज तक उसके कुछ रूप अपने देश

में भी मिल जाते हैं। मालावार के नगरों में सम्पत्ति की मालकिन माँ होती है, वैसे ही आसाम और बरमा की अनेक जातियों में भी। इसी से द्राविड़ अनेक प्रकार की देवियों के भी बड़े भक्त-पूजक थे। साथ ही वे ही शिव की पूजा चलाने वाले भी थे।

इन्हीं द्रविड़ों ने सिन्धु नदी के तट और मुहाने पर कभी भारत में अपने बड़े-बड़े नगर बसाये थे। ये नगर अब खोद निकाले गये हैं और उन्होंने हमारी सभ्यता के इतिहास को हज़ारों वर्ष पीछे फेंक दिया है। उनसे पता चलता है कि आर्यों के इस देश में आने के बहुत पहले द्रविड़ों ने संस्कृति का अद्भुत विकास किया था और वह संस्कृति नगरों की थी, गाँवों की नहीं। दक्खिनी पंजाब के मंटगुमरी ज़िले में हड़प्पा और सिन्ध के लारकाना जिले में मोहनजोदड़ो उस नागरिक सभ्यता के नगर थे। उसकी दूसरी बस्तियाँ बलूचिस्तान में भी बसी थीं, जिनका सिलसिला उत्तर में बढ़ता हुआ फ़ारस की खाड़ी के दोनों ओर ईरान और ईराक़ तक चला गया था। वहाँ उसी से मिलती-जुलती एक और सभ्यता फैली हुई थी, जिसे सुमेरी सभ्यता कहते हैं।

उस ताँबे के युग में, जब पत्थर की चीज़ों के साथ-साथ ताँबे की भी चीज़ों का इस्तेमाल होने लगा था, लोग नगरों में सुख से रहते थे। मोहनजोदड़ो की खुदाई से पता चला है कि लोग नगर में पकाई ईंटों के मकान बनाकर सुख से रहते थे। उनके मकानों में कुएँ और नहाने के कमरे होते थे, ऊपर छत पर जाने को सीढ़ियाँ होती थीं, सड़कें होती थीं और कूड़ा डालने के लिये वहाँ इन्तजाम होता था। ऊँची गहरी नालियाँ, गन्दे पानी को नगर से बाहर निकाल देती थीं। लोग बड़े-बड़े सार्वजनिक तालाबों में नहाते थे, जिन्हें पास के कुएँ से नल द्वारा भर दिया जाता था और गन्दा पानी बाहर निकाल दिया जाता था।

जीवन उनका सादा था। वे खादी के-से सूत के कपड़े पहनते थे, ऊन का भी इस्तेमाल करते थे, और अपने घरों में करघे से अपने आप कपड़ा बुन लिया करते थे। वे अन्न उत्पन्न करते और व्यापार करते थे।

चीज़ें तौलने के लिये उनके पास बड़े अच्छे और सही बटखरे थे।

वे अनेक देवी-देवताओं को पूजते थे परन्तु अधिकतर श्रद्धा उनकी देवी की मूरतों पर थी। असल में उस काल देवी की मूरतों की पूजा अपने देश की सिन्ध नदी से लेकर सारे मध्य एशिया पार भूमध्य-सागर तक होती थी। सिन्ध की सभ्यता में रहने वाले लोग लिंग की पूजा भी करते थे और जो उनकी सैकड़ों मुहरें मिली हैं, उन पर उभरी हुई तस्वीरों से लगता है कि यहाँ अनेक प्रकार के जानवरों की पूजा भी प्रचलित थी। एक मुहर पर तो जानवरों से घिरे हुए शिव भी बैठे हैं, जिससे मालूम होता है कि शैव-धर्म संसार के सब धर्मों से पुराना है। एक योगी की मूरत भी वहाँ मिली है, जो आँखें आधी खोले हुए, नाक की नोक पर उन्हें लगाये समाधि में बैठा है। इससे लगता है कि योग का आरम्भ भी सिन्धु-सभ्यता के द्रविड़ों ने ही किया। वे अपने मृतकों को गाड़ते भी थे, जलाते भी थे और अनेक बार उनको जला कर उनका भस्म दफ़ना भी दिया करते थे।

उस सभ्यता में मिली मुहरों से पता चलता है कि वहाँ के लोगों को लिखना-पढ़ना आता था और उनमें एक प्रकार की लिपि या लिखावट प्रचलित थी, जो आज तक पढ़ी न जा सकी। कला उस काल की ग़ज़ब की सुन्दर थी। मुहरों पर उभार कर बनाई, साँचे में ढाली आदमियों, जीवों और पेड़-पौधों की शक्लें जीवित-सी दीखती हैं। पत्थर की अनेक मूरतें ग़ज़ब की सजीवता लिये हुए हैं। एक नाचती हुई मूरत तो इतनी सजीव है कि लगता है वह नाच के चक्कर पूरे कर रही है। एक काँसे की, खड़ी नारी-मूर्ति अपनी लचक, सुकुमारता और सजीवता में अपना उदाहरण आप है। एक मुहर पर शक्ति का अनुपम रूप साँड बना हुआ है। इसकी जोड़ का नन्दी आज भी कहीं नहीं बना। सिन्धु-सभ्यता के रहने वाले अनुपम कलावन्त थे।

उस महान् सभ्यता के बनाने वाले इस देश के द्रविड़ थे। उन्होंने ही उसका आरम्भ आज से कोई पाँच हज़ार बरस पहले किया था।

उस सभ्यता का विस्तार शायद राजपूताना और गुजरात तक था, जहाँ कुछ खण्डहर उसी सभ्यता के-से अभी हाल खोद निकाले गये हैं। सिन्धु-सभ्यता संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में से है। उसकी समकालीन सभ्यताएँ दजला-फ़रात नदियों की घाटी की सुमेर सभ्यता और नील नदी के तट की मिसरा सभ्यता हैं, और शायद ह्वांगहो नदी के तीर की चीनी सभ्यता भी। ईसा से करीब डेढ़ हज़ार बरस पहले आर्यों ने इस देश में आकर सिन्धु की उस नगर-सभ्यता का अन्त कर दिया।

तीसरा अध्याय

वैदिक सभ्यता

ईसा से प्राय: डेढ़ हज़ार बरस पहले, यानी आज से कोई साढ़े तीन हज़ार बरस पहले, आर्य इस देश में आकर बस चुके थे। वे कहाँ से आये, यह कहना तो कठिन है, पर वे आये ज़रूर कहीं बाहर से, और उत्तर-पश्चिम की राह आये। प्राचीन काल में जातियाँ सदा चलती रहती थीं। उनका चलना होता था उन जगहों से, जहाँ उनके लिये खाना कम होता था, उनके मवेशियों के लिये चारागाह न थे। जाना वहाँ होता था, जहाँ नदी थी, हरी-भरी घाटी थी, चारागाह थे, आहार के सुगम साधन थे। ऐसी घाटियों से वे तभी हिलते थे, जब कोई दूसरी बर्बर जाति आकर उनसे टकरा जाती और उन्हें भगा कर उनकी ज़मीन छीन लेती। इसलिये भारत में एक बार बस चुकने पर वहाँ से अन्य देश को जाने का कोई कारण न था, इसलिये इतिहास में इसका प्रमाण नहीं मिलता कि इस देश से कोई जाति बाहर गई है। आर्य बाहर से आये।

आर्य कहाँ से आये, यह कहना कठिन है और यह जानने की इतनी आवश्यकता भी नहीं, सिवाय इसके कि वे किसी ऐसे केन्द्रीय स्थान से आये, जहाँ एक ही बोली—पुरानी संस्कृत या वह बोली, जिसमें से संस्कृत स्वयं निकली है—बोली जाती थी, और जहाँ से ग्रीक, रोमन, जर्मन आदि जातियाँ भी अपने-अपने वर्तमान स्थानों को चली गई थीं। आर्य नई विजयिनी जाति की ताज़गी लिये आये, अनेक सभ्यताओं को रौंदते हुए आये, अनेक जातियों के रीति-रस्म सम्हाले आये और अपने भाई ईरानी आर्यों को पीछे ईरान में छोड़ते सप्तसिन्धु में आ बसे। सप्तसिन्धु काबुल की घाटी थी, हिन्दुकुश के इस पार की, सीमा प्रान्त

तक फैली। और जैसे-जैसे वे पूरब और दक्खिन बढ़ते गये, वैसे ही वैसे पंजाब में सप्तसिन्धु की सीमाएँ भी बढ़ती गयीं।

पास ही पंजाब और सिन्ध में द्रविड़ों की प्रसिद्ध सिन्धु-सभ्यता फैली हुई थी। आर्यों का बसना वहाँ कुछ आसानी से नहीं हुआ क्योंकि चप्पे-चप्पे ज़मीन के लिये, उनको उस भाग के पुराने निवासियों से लड़ना पड़ा। अपने उस जुझाऊ संघर्ष का उल्लेख आर्यों ने अपनी प्राचीन धर्म-पुस्तक 'ऋग्वेद' में किया है। वे अपने शत्रुओं को 'कृष्णा' (काले), 'अनासाः' (चिपटी नाक वाले), 'मृध्रवाचः' (कठोर बोली बोलने वाले), 'अदेवयु' (अनार्य देवता पूजने वाले), 'अयज्वन्' (यज्ञ न करने वाले), 'शिश्नदेवाः' (लिंगपूजक), 'दास', 'दस्यु' आदि कहते थे। उनके पक्की ईंटों के मकान और परकोटे उन्हें लोहे के किलों की तरह लगे और उन्होंने अपने युद्ध के देवता इन्द्र से वज्र मार कर उन्हें तोड़ देने की प्रार्थना की। आर्य स्वयं ऊँचे क़द के थे, गोरे चिट्टे, तुंगनास (ऊँची नाक वाले) और अपने को वे आर्य यानी श्रेष्ठ कहते थे।

आर्यों की सभ्यता गाँव की सभ्यता थी, देहात की, और अपने गाँवों के बल्ले उन्होंने नदियों के किनारे गाड़े। पहले तो उनकी द्रविड़ों और इस देश के रहने वाले अनार्यों से दुश्मनी हुई पर जैसा सदा संस्कृतियों के सम्बन्ध में हुआ करता है, उन्होंने उनकी सभ्यता की बहुत-सी बातें स्वीकार कर लीं और कुछ ही दिनों बाद वे उनमें घुल-मिल चले। बाद में जब उनका चौथा वेद—अथर्व वेद—लिखा गया, तब तक दोनों की सभ्यताएँ एक दूसरे के बहुत पास आ गई थीं और आर्यों की संस्कृति अपना नया भारतीय रूप धारण कर चली थी। अधिकतर शत्रु आर्यों के समाज में समा गये, पर जिनको अपनी आज़ादी और विचार अधिक प्रिय थे, वे उत्तर से दक्खिन के इलाकों में, जंगलों और पहाड़ों में चले गये।

वेद

ऋग्वेद से आर्यों के रहन-सहन का, उनके धर्म-विश्वास का,

संस्कृति का, पता चलता है, ऋग्वेद की उस संस्कृति को समझने से पहले हमें 'वेद' शब्द का भाव समझ लेना चाहिये। वेद 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—जानना—ज्ञान। वेदों के अधिकतर भाग पद्य में लिखे हैं। एक-एक पद्य को ऋचा कहते हैं। इनमें कुछ ऐसे हैं, जो गाये जाते हैं और जिनका नाम 'साम' है। गद्य-भाग का एक-एक अंग 'यजुष्' कहलाता है। ऋचाओं को मंत्र भी कहते हैं और उनको रचनेवाले मंत्र-द्रष्टा या 'ऋषि' कहलाते हैं। मंत्र पहले फुटकल साहित्य के अंग थे और भिन्न-भिन्न ऋषि-कुलों में उनका संग्रह रहता था। संग्रह को प्राचीन संस्कृत में संहिता कहते हैं। इन मंत्रों की अलग-अलग संहिताएँ बना दी गईं। ऋचाओं का संग्रह 'ऋग्वेद-संहिता' कहलाया। सामों का संग्रह 'सामवेद' तथा यजुषों का 'यजुर्वेद'। प्राचीन परम्परा के अनुसार महाभारत की लड़ाई के समकालीन कृष्णद्वैपायन व्यास नामक मुनि ने अपने समय तक के बने मंत्रों को एकत्र कर, विषय के अनुसार उनको बाँट कर, अपने शिष्यों की मदद से ऊपर बताई तीनों संहिताएँ तैयार कीं। इन तीनों को एक साथ 'त्रयी' कहते हैं। इन तीनों में ऋग्वेद सबसे बड़ा है। सामवेद ऋग्वेद का तिहाई है, और उसके अधिकतर मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। यजुर्वेद में चालीस अध्याय हैं और वह सामवेद से भी छोटा है। बहुत पीछे 'त्रयी' से बचे हुए मंत्रों को, जो उनके विषयों के बाहर के थे, अलग एक स्वतन्त्र वेद में इकट्ठा कर लिया गया। उसका नाम अथर्ववेद पड़ा। उसमें बहुत से मन्तर-जन्तर और टोने-टोटके तथा झाड़-फूंक के मंत्र भी आगये। उस पर आर्यों से पहले की इस देश की संस्कृति का काफी असर पड़ा है। उसी से ज्ञात होता है कि किस प्रकार दोनों सभ्यताएँ एक दूसरी में घुल-मिल गईं।

ऋग्वेद

ऋग्वेद आर्यों की सबसे प्राचीन पुस्तक है, सबसे पवित्र। उसमें १०२८ सूक्त हैं। उन्हीं में एक खास प्रकार के ११ सूक्त और भी शामिल हैं, जिन्हें 'बालखिल्य' कहते हैं। सूक्त का अर्थ है, अच्छी उक्ति। हर सूक्त

में तीन-चार से लेकर सौ तक मन्त्र हैं। ऋग्वेद की समूची संहिता को दस भागों में बाँट दिया गया है और हर भाग 'मण्डल' कहलाता है। सारे सूक्त एक ही काल के नहीं हैं, समय-समय पर बनते गये हैं, और उन्हें बनाने में ऋषियों की अनेक पीढ़ियाँ लगी हैं। जैसे ऋषियों के कुल भिन्न-भिन्न हैं, उनकी पीढ़ियाँ भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही इन सूक्तों के बनने के काल भी भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धालु हिन्दू इन सूक्तों को अपौरुषेय अथवा ईश्वर के बनाए हुए मानते हैं। इन सूक्तों के बनाने वाले या उनके ज्ञान को द्रष्टा की भाँति देखने वाले ऋषि, पुरुष और स्त्री दोनों हैं। अधिकतर मंत्र पुरुषों के ही बनाए हैं, पर अनेक स्त्रियों के भी। कुछ को छोड़कर अधिकतर सूक्त देवताओं की स्तुति में कहे गये हैं। इन स्तुतियों से भी उस काल के वैदिक समाज पर प्रकाश पड़ता है और उनसे उस समाज के सुख-दुःख जाने जा सकते हैं। कुछ सूक्त ऐसे भी हैं, जिनमें उस काल के युद्धों और आचार-विचारों का वर्णन मिलता है, कुछ में राजाओं के दान का उल्लेख हुआ है। उनके आधार पर ऋग्वैदिक आर्यों के समाज और जीवन का विवरण नीचे दिया जाता है।

ऋग्वेद का जीवन

ऋग्वैदिक आर्य कई दलों में विभक्त थे; जिनको 'जन' कहते थे। प्रधान 'जन' पाँच थे—अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वस और पुरु। यह पाँचों 'जन' सरस्वती के दोनों किनारों पर रहते थे। इनके अतिरिक्त भी अनेक जन थे जैसे, भरत, भित्सु, सृञ्जय, त्रिवि आदि। ये जन सभी एक साथ नहीं आये थे। समय-समय पर अलग-अलग टोलियों में आये थे। इससे वे बसे भी भिन्न-भिन्न जगहों पर थे। इसी से आपस में भी वे जब-तब लड़ पड़ते थे। एक बार उनकी आपसी लड़ाई वसिष्ठ और विश्वामित्र के झगड़ों के कारण हुई। उसमें दस राजा शामिल हुए थे। इसी से उस युद्ध का नाम भी 'दासराज्ञ' पड़ा। उसमें भरतों का राजा सुनास विजयी हुआ। उसके बाद उस राजा को यमुना के किनारे अनार्यों से भी लड़ना पड़ा परन्तु उसने उन सबको नष्ट कर दिया।

वैदिक राष्ट्र का आधार 'गृह' या कुल था। कुलों के समूह को 'ग्राम' कहते थे। ग्रामों का समूह 'विश' कहलाता था और विशों का 'जन'। 'जन' का मुखिया 'राजा' होता था, और उसका पद ऋग्वेद के समय तक कुलागत बन गया था। साधारण जनता 'विश' कहलाती थी जो, राजा को चुना करती थी। राजा जनता की रक्षा करता और युद्धों में अपने 'जन' का नेतृत्व करता था। उसकी प्रजा उसे उपहार देती थी। शान्ति के समय राजा न्याय का प्रबन्ध और यज्ञ आदि करता था। सेना का प्रधान 'सेनानी' और गाँव का मुखिया 'ग्रामीण' कहलाता था। यज्ञ पुरोहित कराता था, जिसे उसके बदले दक्षिणा मिला करती थी। राजा निरंकुश न था और उस पर अंकुश रखने के लिये 'सभा' और 'समिति' नाम की दो संस्थायें थीं। 'जन' के बूढ़े सभा में बैठते थे और समिति समूची जनता की थी। सभा दोनों में अधिक प्रभावशाली थी। राज्य उस काल छोटे-छोटे थे, परन्तु अनार्यों और समान शत्रु के मुकाबले सब एक साथ जब-तब मिल जाते थे। धीरे-धीरे बड़े राज्यों की भी स्थापना हो चली। सुदास का राज्य भी इन्हीं बड़े राज्यों में था।

सामाजिक व्यवस्था

भारत में आर्यों के पहले ही शायद विवाह की प्रथा चल पड़ी थी और द्रविड़ विवाह करते थे। ऋग्वेद के सामाजिक संगठन में विवाह प्रधान आधार था, जिससे गृहस्थ-धर्म भली प्रकार चल निकला था। साधारण तौर पर एक आदमी एक ही स्त्री से विवाह करता था, पर राजा, श्रीमान्, पुरोहित और ऋषि तो एक से अधिक विवाह भी कर लिया करते थे। बाल-विवाह की प्रथा तब नहीं थी। नारी को अपना पति चुनने में काफी स्वतन्त्रता थी। विवाह के बाद पत्नी पति की रक्षा में रहती थी। घर के सभी कामों में उसका बोल-बाला था, और वह यज्ञों और उत्सवों में खुलकर भाग लेती थी। स्त्रियों में पर्दा न था और उनकी शिक्षा का भी प्रबन्ध था। इसी से अपाला, विश्ववारा, घोषा, लोपामुद्रा आदि अनेक नारियाँ मंत्रकार ऋषि बन गईं।

परिवार में केवल पति-पत्नी ही न थे क्योंकि परिवार सम्मिलित था और उसमें माता-पिता, भाई-बहन अर्थात् सास-ससुर, देवर-ननद, पुत्र-पुत्री, सभी होते थे। उन पर और घर के दासों-नौकरों और पशुओं पर पत्नी का पूरा अधिकार होता था। इसीलिये विवाह के अवसर पर उसको उन सबके ऊपर 'सम्राज्ञी' कहा जाता था। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने बड़े-बूढ़ों पर शासन करती थी। वे उसकी देख-रेख, स्नेह-श्रद्धा के आश्रय थे। परिवार परस्पर मेल से रहता था। एक दूसरे के प्रति उसमें त्याग, सेवा और सहायता का भाव होता था। इसमें सन्देह नहीं कि जब-तब भूमि, पशु, गहने आदि के लिये उनमें अनबन भी हो जाया जरती थी और तब कुल और सम्पत्ति बँट जाया करते थे।

वस्त्राभूषण

लोग अधिकतर तीन वस्त्र पहनते थे। नीचे अधोवस्त्र जिसे नारियों के पक्ष में नीवी कहते थे, जो एक प्रकार का घाघरा था, दूसरा उत्तरीय (चादर) था, और तीसरा उन सबके ऊपर जब-तब ओढ़ा जाने वाला शाल था। कपड़े ऊन के बनते थे, पर गर्मियों में सूत के ही पहने जाते रहे होंगे। ऋग्वेद में सूती कपड़े का उल्लेख नहीं है, पर चूंकि सिंधु घाटी की सभ्यता में उनका उपयोग होता था, यह मान लेना अनुचित न होगा कि आर्यों ने उसका इस्तेमाल द्रविड़ों से सीख लिया होगा। धनी लोगों के वस्त्र भाँति-भाँति के रंगों से रँगे होते थे, सोने के तारों से उन पर सूईकारी का काम भी किया होता था। लोग जब-तब पगड़ी पहनते थे, और साधारण तौर से उनकी पोशाक प्रायः वही थी, जो आज के पठानों की है। मर्द और औरत दोनों आभूषण धारण करते थे। उनमें कानों में कुण्डल, गले में हार, भुजाओं में भुजबन्द आदि मुख्य थे। बालों में तेल डाल कर लोग उन्हें कंघों से काढ़ लिया करते थे। औरतें कई चोटियाँ करती थीं और अनेक बार तो पुरुष भी केशों का जूड़ा-सा बना कर सिर पर धारण करते थे। पुरुष छुरे से दाढ़ी बनाना जानते थे, यद्यपि दाढ़ी और मूँछ दोनों रखना आम बात थी।

आहार-विहार

आर्यों का आहार अन्न और माँस दोनों का था। जौ का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है पर गेहूँ का नहीं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वे गेहूँ ही नहीं और फसलें भी उगा लेते थे। उनका जीवन देहात का जीवन था। उनका प्रधान पेशा खेती था, जिससे यह अनुमान करना कुछ अनुचित न होगा, पर आटे का प्रयोग वे किस प्रकार करते थे, इसका पूरा प्रमाण नहीं मिलता। रोटी और तवे के लिये संस्कृत में कोई शब्द नहीं है, जिससे इस सम्बन्ध में कोई राय निश्चित नहीं की जा सकती। आर्यों के आहार में फल और तरकारियाँ काफ़ी होती थीं। दूध, घी, दही, मधु आदि का उपयोग प्रचुर मात्रा में होता था। माँस खाना साधारण बात थी। माँस लोग देवताओं की पूजा में भी चढ़ाते थे और यज्ञों में बलि देने के कारण वह पुरोहित और यजमान दोनों को प्रिय था। अधिकतर भेड़-बकरी का माँस ही चलता था पर गाय का माँस खाने वालों की भी कमी न थी। अतिथियों के स्वागत के लिये बछड़ा अक्सर मारा जाता था। इसीसे उसे 'अतिथि' कहते भी थे। धीरे-धीरे गाय का महत्त्व लोगों ने समझा और उसका माँस खाना छोड़ दिया। तब से वह 'अवघ्या' यानी वध के अयोग्य मानी जाने लगी। ऋषियों ने उसकी स्तुति में गीत गाये और उसका वध बन्द हो गया।

आर्य सुरा भी खूब पीते थे। सोम एक प्रकार का मादक पेय था, जिसको लोग त्यौहारों पर पीते थे। युद्धों का देवता इन्द्र सोम पीकर ही रण में शत्रुओं का संहार करता है। ऋग्वेद के समूचे नौवें मण्डल में सोम की ही स्तुति हुई है। धार्मिक अवसरों को छोड़कर अन्य त्यौहारों पर अन्न से टपकाई एक प्रकार की दूसरी सुरा का भी व्यवहार होता था।

आर्यों का जीवन सादा और सुखी था। उनके समाज में उत्सव और मेले खूब होते थे। गाने और नाचने में मर्द और औरत दोनों समान रूप से भाग लेते थे। दुन्दुभी (नगाड़ा), मृदंग, वीणा, और बाँसुरी उनके

प्रधान बाजे थे। साम-गान तो धार्मिक अवसरों से सम्बन्ध रखता था परन्तु निःसन्देह लोक-गीतों का भी चलन रहा होगा। रथ और घोड़ों का दौड़ाना उनके खेलों में विशेष स्थान रखता था। जुआ आर्यों का बड़ा प्रिय खेल था और यद्यपि उससे कुल नष्ट हो जाते थे, राज उजड़ जाते थे, लोग जुआ खेलने से चूकते न थे। सभा-स्थल जुआरियों से भरा रहता था। ऋग्वेद में जुए के सम्बन्ध में एक बड़ा करुण और दिल को हिला देने वाला सूक्त है, जिसमें जुआरी की कथा दी हुई है। जुआरी की सुबह की हुई प्रतिज्ञा शाम को टूट जाती है, शाम को की हुई प्रतिज्ञा सुबह। उसकी अनेक प्रकार से दुर्दशा होती है। उसके माता-पिता, सास-ससुर, भाई-बन्धु, सभी उसे छोड़ देते हैं, उसके ऋणदाताओं से कहते हैं, इसे पकड़ ले जाओ, यह हमारा कोई नहीं लगता। पर उसका भी उस पर कोई असर नहीं पड़ता और जब अंगारों की तरह पांसे उछलते हैं, तब वह फिर आत्म-समर्पण कर बैठता है, जुए का घोड़ा जोत देता है। दाँव पर रख कर पत्नी तक को हार जाता है। उसका जीवन दुःखमय हो जाता है पर वह जुए के मोह को नहीं छोड़ पाता।

आर्थिक जीवन

आर्यों का प्रधान पेशा पशु-पालन और खेती था। गाय, बैल, घोड़े, भेड़, बकरी, गधे और कुत्ते उनकी पशु-सम्पत्ति थे। उनको जोड़ने और उनका पालन करने में आर्य सदा लगे रहते थे। कृषि शब्द का प्रयोग खेती के अर्थ में आर्यों और ईरानियों दोनों की भाषा में समान रूप से हुआ है। इसलिये खेती उनका बड़ा पुराना पेशा जान पड़ता है। साँड़ या बैल हल को खींचते थे। हल का फाल खेत में हराई उठाता था। खेतों की सिंचाई नालियों द्वारा होती थी, जिनमें जल कुओं और नदियों से पहुँचाया जाता था। जौ, शायद गेहूँ भी, तिल आदि बोये जाते थे। पक जाने पर उन्हें काट-ओसा कर बखारों में रख लिया जाता था। भूमि परिवार की सम्पत्ति होती थी, और बहुत कम खरीदी-बेची जाती थी। पिता या सम्बन्धियों के मरने पर दाय के रूप में, नई भूमि जीतकर या

जंगल काट कर प्राप्त की जा सकती थी। जीती हुई ज़मीन सारे 'जन' में बँट जाती थी।

अपनी पुरानी भूमि छोड़ने के बाद आर्यों को निरन्तर युद्ध करना पड़ा था। राह में तो लड़ना स्वाभाविक था ही, भारत में बस जाने पर भी उनकी लड़ाइयों का ताँता न टूटा। एक तो वैसे भी आर्य अनजाने देश में आ बसे थे, जिससे शत्रुओं की कमी न थी, फिर नई भूमि जीतने की उनकी अपनी महत्वाकाँक्षा भी बड़ी थी, जिससे आये दिन लड़ाई होती रहती थी। इस प्रकार नई भूमि जीतने और अपनी रक्षा के लिये, उन्हें योद्धाओं का एक अलग वर्ग ही बना लेना पड़ा था। यही वर्ग आगे चलकर राजन्य या क्षत्रिय कहलाया। युद्ध करना ही क्षत्रियों का पेशा बन गया। घोड़ों और रथों पर चढ़ कर या पैदल वे लड़ते थे। कवच और धातु के बने टोप रक्षा के लिये वे धारण करते थे। उनके अस्त्र-शस्त्रों में प्रधान धनुष-बाण, भाले-बरछे, फरसे, तलवार और पत्थर फेंकने वाले जाल थे। लड़ते समय आर्य लोग रणघोष करते और नगाड़े बजाते थे।

लड़ाई के अतिरिक्त समाज में लोगों के और भी पेशे थे, जैसे जालों से पक्षी और पशु पकड़ना। कुछ लोगों का कहना है कि आर्य लोगों ने समुद्र नहीं देखा था पर ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर जो जल का वर्णन हुआ है, उससे समुद्र-यात्रा की ध्वनि एक अंश में निकलती है।

व्यापार

सिक्कों का चलन तब न था और ज्यादातर चीज़ें आपस में बदल ली जाती थीं। गाय को मोल का मान मानते थे। उसी की संख्या में दाम कूता जाता था। जीवन की आवश्यकताएँ कम थीं और जो थीं, वे अक्सर गाँवों में ही पूरी हो जाती थीं। अनेक व्यवसाय आर्यों के विशेष कुल करने लगे थे। बढ़ई और रथकार का समाज में बड़ा महत्त्व था क्योंकि वह युद्ध के लिये रथ बनाता था, खेती के लिये हल। लोहार अस्त्र-शस्त्र, हल के फाल, घरेलू बर्तन बनाता था। धातु के लिये ऋग्वेद

में 'अयस्' शब्द का इस्तेमाल हुआ है, जिसका मतलब ताँबा, पीतल, लोहा तीनों हो सकता है। सुनार सोने के गहने बनाते थे, चर्मकार (चमार) चमड़े को चिकना कर उसे रँगते और धनुष की रस्सी वगैरह बनाते थे। चमड़े का काम बुरा नहीं माना जाता था और न ऊन, सन आदि के कपड़े बनाने का ही। स्त्रियाँ अधिकतर सीने-पिरोने, चटाई बुनने, कपड़ा तैयार करने, पानी लाने आदि का काम करती थीं। अविवाहित लड़की का विशेष कार्य गाय का दूध दुहना था, जिससे उसका नाम ही 'दुहिता' पड़ गया। समाज में कोई पेशा छोटा नहीं माना जाता था।

धर्म

आर्यों का धर्म बड़ा सादा था। उसमें अनेक देवी-देवता थे, जो अधिकतर सूर्य आदि की तरह की विशेष शक्ति वाले प्रकृति के अंग थे। उनको तीन भागों में बाँटा जा सकता है— १–पृथ्वी के देवता, जैसे पृथ्वी सोम, अग्नि; २–अन्तरिक्ष के देवता, जैसे इन्द्र, वायु, मरुत, पर्जन्य; ३–स्वर्ग के देवता, जैसे, वरुण, द्यौस्, सूर्य, मित्र, पूषन्, विष्णु। इनमें से पिछले चार किसी न किसी रूप में सूर्य से ही सम्बन्ध रखते थे। इन देवताओं में वरुण का स्थान बहुत ऊँचा था। उसकी स्तुति में बड़े सुन्दर मन्त्र कहे गये हैं। धीरे-धीरे इन्द्र गौरव में उससे बढ़ जाता है। उसकी स्तुति में भी सैकड़ों सूक्त बने। वह वज्रधारी है और वर्षा से अन्न का उपजना सम्भव करता है। देवियों में उषा प्रधान है, जिसकी स्तुति में एक से एक सुन्दर कविताएँ ऋग्वेद में इकट्ठी की हुई हैं। अदिति और इन्द्राणी भी ऋग्वेद की देवियों में विशेष आदर का स्थान रखती हैं। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये आर्य उन्हें दूध, घी, अन्न, माँस, आदि यज्ञ में चढ़ाते थे। यजमान का यज्ञ करना आवश्यक था। पुरोहित यज्ञ कराता था। लोग मानते थे कि सारे देवता और देवी द्यौस् और पृथ्वी से उत्पन्न हुए हैं। और एकाध बार तो उन सब को एक ही महान् देवता के रूप में मानने की कोशिश हुई है। ऋषि ने कहा है कि एक ही देवता को पंडित लोग अनेक नामों से पुकारते हैं।

वर्ण-व्यवस्था

आर्यों में इस प्रकार पेशों के अनुकूल ही भारतीय संस्कृति का एक प्रधान रूप वर्ण-व्यवस्था बन चली थी। पुरुष-सूक्त नाम के ऋग्वेद के एक सूक्त में लिखा है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण निकले, भुजाओं से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य और पैरों से शूद्र। इस प्रकार चारों वर्णों की व्यवस्था ऋग्वेद में ही हो गई है। वर्ण, यानी रंग के आधार पर यह व्यवस्था माननी कठिन होगी क्योंकि शूद्रों और ऊपर के तीन वर्णों में चाहे रंग का भेद कभी रहा भी हो, पर ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में उसका इतना भेद होना कि उनकी अलग-अलग जातियाँ बन जाएँ, सम्भव नहीं जान पड़ता। पुरुष-सूक्त में दी हुई व्यवस्था के अनुकूल ही ब्राह्मण सबसे ऊँचे, बाद क्षत्रिय और उनके बाद वैश्य और इन तीनों की सेवा करने वाले शूद्र सब से नीचे थे। ब्राह्मण यज्ञ कराते और ऋषि-कार्य करते थे। क्षत्रिय या राजन्य राज करते और सैनिक कार्य करते थे और उनसे बची हुई, शूद्रों को छोड़कर, जो आम जनता 'विश' कहलाती थी, वैश्य बनी और उसका काम खेती करना और पशु पालना हुआ। इन तीनों का किसी न किसी रूप में उल्लेख ईरानी आर्यों की धर्म-पुस्तक 'ज़ेन्दावेस्ता' में हुआ है। जिस से प्रगट है कि ये वर्ण भारतीय आर्यों के ईरानी आर्यों के अलग होने के पहले ही बन चुके थे। पर शूद्रों को स्थान शायद समाज में आर्यों के भारत आने के बाद मिला। शायद वे, या कम से कम उनमें से कुछ, उनके भारतीय शत्रुओं में से ही आये थे। दासों और दासियों की भी समाज में स्थिति थी क्योंकि ऋग्वेद में जिन स्त्रियों से रथ भर-भर दान देने की बात कही गई है, वह स्वतंत्र आर्य नारी के लिये सच नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि जिस वर्ण-व्यवस्था की बाद में भारतीय समाज में इतनी प्रबलता हो गई, उसकी रूपरेखा ऋग्वेद-कालीन आर्यों में ही बन चुकी थी।

चौथा अध्याय

उत्तर-वैदिक काल

साहित्य

उत्तर-वैदिक काल ऋग्वेद के बाद और जैन-बौद्ध धर्मों के उदय के पहले का युग है। क़रीब १२०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच इस युग के साहित्य का निर्माण हुआ। पहले यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद बने, बाद में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् लिखे गये। तीनों वेदों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ब्राह्मण गद्य में लिखे हुए हैं और संस्कृत भाषा के प्राचीनतम गद्य के रूप वे हमारे सामने रखते हैं। उनका उद्देश्य वैदिक कर्म-काण्ड को स्पष्ट करना, वैदिक मंत्रों की व्याख्या करना और यज्ञ की विधियों को पुरोहितों के लिये स्पष्ट करना था। उनमें प्रधान 'ऐतरेय', 'शतपथ', 'पंचविंश' और 'गोपथ' हैं। वेद की ऋचाओं के भेद को स्पष्ट करना तो इनका काम रहा ही है, इसके अतिरिक्त ये ब्राह्मण वर्ण के निजी ग्रंथ भी रहे हैं, उनके पेशे की कुंजी, जिससे उनका नाम भी 'ब्राह्मण' पड़ा। 'आरण्यक' ब्राह्मणों के ही अन्तिम भाग हैं। अरण्य बन को कहते हैं और आरण्यक उस साहित्य का नाम इसलिये पड़ा कि उसका ज्ञान वन के निर्जन वातावरण में दिया जाता था। ऐतरेय, कौषीतकि और तैत्तिरीय आरण्यक इन्हीं नामों के ब्राह्मणों के साथ जुड़े हुए हैं। सबसे अन्त में उपनिषद् लिखे गये, परन्तु बाद में लिखे जाने का मतलब यह नहीं कि उनके ज्ञान का आरम्भ भी बाद में ही हुआ। उनका विषय विचारकों के मनन और चिन्तन का पहले भी रहा होगा, जिसे बाद में ग्रंथ के रूप में लिख डाला गया। यह लिखना निश्चय ही पीछे हुआ।

उत्तर-वैदिक काल के अन्त में। ब्राह्मणों का सम्बन्ध यज्ञ के कर्मकाण्ड से था और उपनिषदों का चिन्तन और दर्शन से। भारत के अध्यात्म का सही-सही आरम्भ इन्हीं उपनिषदों से हुआ। उपनिषदों ने यज्ञों की हिंसा का प्रबल विरोध किया और ज्ञान को अपने विचारों का आधार बनाया। उसी परम्परा में महावीर और बुद्ध जन्मे और बढ़े। उपनिषदों के ज्ञान का सार था, आत्मा का जन्म के बन्धन में बार-बार आना और अन्त में कर्मों का क्षय होने पर मुक्त होकर परमात्मा में विलीन हो जाना। जैसे 'ब्राह्मण' अधिकतर ब्राह्मण पुरोहितों के निजी ग्रन्थ थे, वैसे ही उपनिषद् क्षत्रियों के अपने थे। उनके ज्ञानी और विचारशील नेता अश्वपति, जैवलि, अजातशत्रु और जनक थे—चारों क्षत्रिय, चारों राजा। उपनिषदों में प्रधान 'छान्दोग्य' और 'बृहदारण्यक' हैं। इनके अतिरिक्त १० और उपनिषदों के नाम बड़ी श्रद्धा से लिए जाते हैं, वे हैं—'ऐतरेय', 'कौपीतकि', 'तैत्तिरीय', 'कठ', 'श्वेताश्वतर', 'ईश', 'केन', 'प्रश्न', 'मुण्डक', और 'माण्डूक्य'।

भौगोलिक ज्ञान

ऋग्वेद में जहाँ आर्यों का निवास अफ़ग़ानिस्तान से गंगा की घाटी तक ही सीमित था, उत्तर-वैदिक काल के आर्य पूर्व और दक्षिण, दूर तक बढ़ चुके थे। सम्भवतः सारे देश पर उनका प्रभुत्व हो गया था। अब उन्हें पश्चिम के देश अफ़ग़ानिस्तान आदि अप्रिय और अपावन हो गये थे, पूर्व के देश प्रिय और पावन। आर्य संस्कृति का केन्द्र अब कुरुक्षेत्र था और मध्य देश में वह फल-फूल चली। गंगा-यमुना का द्वाब, कोशल (अवध), काशी और विदेह (उत्तर-बिहार) पूर्व के नये आर्य-केन्द्र बने। उपनिषद्-ज्ञान के प्रधान केन्द्र मध्य पंजाब में केकय, गंगा-यमुना के द्वाब में कुरु-पाँचालों का प्रदेश काशी और मिथिला थे, जहाँ राजा अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु काशी, और जनक विदेह उपदेश करते थे।

साहित्य और दर्शन अधिकतर अवकाश और शान्ति के फल हैं।

उनका सृजन शत्रुओं के साथ आर्यों के युद्ध बन्द हो जाने के बाद हुआ। राजा लोग लड़ाई के व्यूह छोड़कर अपनी राजसभा को विद्वानों की परिषद् बनाने लगे थे और उनके वे स्वयं नेता थे। बड़े-बड़े नगर खड़े होने लगे थे। पाँचालों का नगर कम्पिल्य, कुरुओं का आसन्दीवन्त, कौशाम्बी और काशी इस काल विख्यात हो चुके थे।

'जनों' का नया रूप

पुराने 'जनों' ने अब नये रूप धारण कर लिये थे। कुछ नष्ट हो गये थे, कुछ जो पहले साधारण रहे थे, अब प्रधान हो गये थे। भरतों की शक्ति अब कुरु-पाँचालों में बँट गई थी। शायद, पाँचालों में पहले के पाँचों 'जन' शामिल थे। उस काल के वैदिक ग्रंथ कुरु-पाँचालों को सदाचार, शील और भाषा में आदर्श मानते हैं। उनके राजा राजाओं में आदर्श हैं, ब्राह्मण ब्राह्मणों में। मत्स्य नाम का भी एक 'जन' उस काल प्रबल हो चुका था और उसका निवास जयपुर और अलवर के आस-पास था। शल्व-वंश और उशीनर यमुना के किनारे काशी तक फैले हुए थे।

राजनीति

राजनीति भी ऋग्वेद के ज़माने से अब काफ़ी बदल चुकी थी। बड़े-बड़े जनपद-राज्य उठ खड़े हुए थे। दिग्विजय की परिपाटी चल पड़ी थी, जिससे राजा वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि नाम के यज्ञ कर सम्राट्, सार्वभौम, चक्रवर्ती आदि विरुद धारण करने लगे थे। छोटे-बड़े राजाओं की परम्परा इस प्रकार थी—राजा, अधिराज, राजाधिराज, सम्राट्, विराट्, एकराट् और सार्वभौम। पर इससे यह न समझना चाहिये कि उन साम्राज्यों का विस्तार आज के साम्राज्यों-सा लम्बा-चौड़ा था।

राजा का मान अब तक बहुत बढ़ गया था, पुरोहित यजमान की दान-शक्ति की प्रशंसा करने लग गये थे। राजा इन्द्र कहलाने लगा था और उसने इन्द्र का महत्व और ऐश्वर्य धारण कर लिया था। राज्या-भिषेक बड़े उत्साह से होने लगा था। अथर्ववेद के मन्त्र उस अवसर पर

गाये जाते थे। ऋग्वैदिक काल में राजा का अभिषेक करने वाले इने-गिने-थे, पर अब उसमें अनेक पदाधिकारी भाग लेते थे, जैसे—पुरोहित, राजन्य (क्षत्रियों का प्रतिनिधि), महिषी (पटरानी), सूत (पुराण-कथाकार), सेनानी, ग्रामणी (गाँव का मुखिया), भागदुघ (कर उगाहने वाला), क्षत्री (प्रतीहार), (संग्रहित्री), (कोषाध्यक्ष), अक्षवाप (जुए का अधिकारी) आदि। राजा के ऊपर पहले का-सा सभा और समिति का अंकुश न रहा था, क्योंकि उन सर्वजनिन संस्थाओं की शक्ति अब बहुत क्षीण हो गई थी। इस प्रकार राजा की शक्ति बढ़ गई थी, यद्यपि अनेक बार जनमत उसको अपनी शक्ति से सावधान कर दिया करता था। एक बार तो दुष्टऋतु नामक राजा को प्रजा ने मार भी भगाया था।

कुरु

ऊपर कहा जा चुका है कि राजनीति के क्षेत्र में अब कुरु प्रबल हो गये थे। उनके सम्राट् परीक्षित का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। उसमें लिखा है कि प्रजा उसके शासन से सुखी और सन्तुष्ट थी और देश में दूध और मधु की नदियाँ बहती थीं। उसका राज थानेश्वर, दिल्ली और गंगा-यमुना के उपरले द्वाब तक फैला हुआ था। राजधानी उसकी आसन्दीवन्त थी, जो बाद में हस्तिनापुर हुई। उसके बेटे जनमेजय को ब्राह्मण ग्रन्थों में महान् विजेता कहा गया है। उसने तक्षशिला को जीत लिया था और वहीं उसके दरबार में वैशम्पायन उसे कौरव-पाण्डवों के युद्ध का वृत्तान्त सुनाता था। ब्राह्मणों और क्षत्रियों में पहले से ही जो शक्ति और नेतागिरी के लिये संघर्ष चला आ रहा था, वह उस काल बड़ा प्रबल हो गया। जनमेजय के अश्वमेध में उसके पुरोहित तुरकावषेय ने जब उसका यज्ञ अपवित्र कर दिया। तब राजा के तीन भाइयों—भीमसेन, उग्रसेन और सुतसेन—ने हजारों ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतार दिया और बचे हुए ब्राह्मण देश से बाहर निकाल दिये गये। इस

ब्राह्मण-वध के प्रायश्चित्त के लिये जनमेजय के भाइयों को अश्वमेध करने पड़े।

पांचाल

पांचाल, कुरुओं के पड़ोसी थे और पूर्व में बसे थे। उन्हीं में महाभारत-काल का राजा द्रुपद हुआ, जिसकी बेटी द्रौपदी थी। आगे चलकर उसी कुल में प्रवाहणजैवलि नाम का उपनिषद् काल में महान् चिन्तक हुआ। उसकी सभा पाँचाल-परिषद् नाम से उपनिषद् के ज्ञान के लिये प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार की परिषदें प्रायः सभी राजसभाओं में स्थापित हो चुकी थीं, जहाँ व्याख्यान और तर्क द्वारा सत्य की खोज की जाती थी। जैवलि की राजधानी काम्पिल्य थी। फरुखाबाद का ज़िला और रुहेलखण्ड का कुछ भाग पांचाल जनपद (इलाके) के अन्दर थे।

काशी

काशी में ब्रह्मदत्त कुल के राजा राज करते थे। उनमें अजातशत्रु इस काल बड़ा पंडित और ज्ञानी हुआ। उसकी सभा में बालाकि नाम का प्रसिद्ध ऋषि रहता था, जो अपने ज्ञान के गर्व के कारण 'तृप्त' कहलाता था। राजा ने आत्मा-सम्बन्धी कुछ प्रश्न कर उसे निरुत्तर कर दिया था और बाद में उसने उसे आत्मा का भेद बताया, तब बालाकि ने स्वीकार किया कि वह ज्ञान केवल क्षत्रियों का है और उस सम्बन्ध में वह सर्वथा अज्ञानी है।

कोशल

सरयू की घाटी में प्राचीन काल में ही आर्यों का राज कोशल (अवध) में स्थापित हो चुका था। बहुत काल तक वही प्रदेश आर्य-सभ्यता की पूर्वी सीमा थी। इक्ष्वाकु वंश के राजा वहाँ राज करते थे। कभी रघु और राम ने वहाँ राज किया था। बुद्ध के समय कोशल की राजधानी अयोध्या से हटाकर श्रावस्ती बना ली गई थी।

विदेह

आर्य-सभ्यता का सबसे पूर्वी केन्द्र उत्तर-बिहार में मिथिला थी।

कभी वहाँ राम के ससुर सीरध्वज जनक ने राज किया था। बाद में कई बार वहाँ पंचायती राज क़ायम हुआ, कई बार राजाओं ने राज किया। उपनिषद्-काल में वहाँ का राजा विदेह ज्ञानियों का नेता था। कहते हैं कि जनकपुर उसी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसका दरबार उस काल भी दार्शनिक परिषदों में सबसे अधिक महत्व का था। वह ब्राह्मण-ऋषियों का भी गुरु था और उसी के दरबार में याज्ञवल्क्य के-से मुनियों के व्याख्यान होते थे। जनक की सभा में याज्ञवल्क्य और ब्रह्मवादिनी गार्गी के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् में हुआ है। जनक के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह इतना त्यागी था कि कहा जाता है कि एक पैर वह सिंहासन पर रखता था और दूसरा वन में। साधारण विश्वास है कि उसका नाम 'विदेह' जीवन में ही उसके मुक्त हो जाने से पड़ा था। परन्तु यह धारणा गलत है। विदेह वहाँ बसने वाली जनता का नाम था, जिससे राजा भी विदेह कहलाया।

शतपथ ब्राह्मण में उस दिशा में आर्य संस्कृति का प्रचार विदेघ माथव और उसके पुरोहित गौतम राहुगण ने किया। तब तक आर्य संस्कृति की पूर्वी सीमा कोशल राज के पूर्व में बहने वाली सदानीरा या गण्डक नदी थी। दोनों सदानीरा पारकर विदेह जा पहुँचे और वहाँ वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित की, जो पहले वहाँ नहीं जलती थी। उस अग्नि के वहाँ न जलने का मतलब केवल यही है कि उस देश में तब तक अभी वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि का प्रचार न हुआ था। किसी समय विदेह, काशी और कोशल तीनों का एक ही पुरोहित था, जलजातुकर्ण्य।

केकय

इन सबसे पश्चिम केकय का राज्य था, व्यास नदी के पश्चिम नमक की पहाड़ियों के इर्द-गर्द बसा। वहाँ का राजा अश्वपति कैकेय जनक और जैवलि की ही भाँति उपनिषद् के ज्ञान में पांरगत था। और उसने याज्ञवल्क्य के गुरु और उस काल के प्रसिद्ध ऋषि आरुणि और उनके बेटे श्वेतकेतु को अपना शिष्य बनाया था। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा

है कि उस राजा के राज में कोई चोर, शराबी, कायर, व्यभिचारी और अपढ़ व्यक्ति न था—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
ना ना हिताग्निर्नाविद्वान्नस्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥"

मगध और अंग (पटना, भागलपुर और मुंगेर के ज़िले) उपनिषदों के युग में भी अपावन माने जाते थे। वहाँ के रहने वालों को 'व्रात्य' कहा गया है। व्रात्य उन्हें कहते थे, जो आर्य संस्कृति से बाहर हों। व्रात्यस्तोम नाम का एक प्रकार का अनुष्ठान कर उन्हें आर्य संस्कृति में दीक्षित किया जाता था।

समाज

वर्ण-व्यवस्था किसी न किसी रूप में ऋग्वेद काल में ही स्थापित हो चुकी थी। उसके पुरुष-सूक्त में गिनाए चारों वर्णों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। किन्तु उस काल विवाह या पेशे आदि की सीमाएँ अभी ऐसी नहीं बनी थीं कि बाँधी जा सकें। विवाह तो अनेक बार एक वर्ण के दूसरे में हो ही जाते थे, कभी-कभी पेशे भी दूसरे वर्णों के अख्तियार कर लिये जाते थे। ऋग्वेद में लिखा है कि राजा शान्तनु के बड़े भाई देवापि चर्म रोग से पीड़ित होने के कारण सिंहासन से वंचित कर दिये जाने पर, अपने छोटे-भाई शान्तनु के पुरोहित हो गये थे। निश्चय तब राजपद के बाद दूसरा शक्ति और महत्त्व का पद पुरोहित का ही था। ऋग्वेद के काल में फिर भी ब्राह्मण, क्षत्रियों में पुरोहिताई के पेशे के लिये कशमकश शुरू हो गई थी। इतना बड़ा दस राजाओं का युद्ध उस काल जो हुआ था, वह वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच पुरोहिताई के लिये संघर्ष के कारण ही हुआ। मतलब कि वर्ण की सीमायें तभी प्रबल हो चली थीं और ब्राह्मण इसे पसन्द नहीं करते थे कि दूसरे वर्ण वाले उनके पेशे को अपना लें या उनके वर्ण में दाखिल हो जाएँ। वर्ण-व्यवस्था उत्तर-कालीन वैदिक युग में अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो गई थी। अब हम किसी देवापि क्षत्रिय को ब्राह्मण या पुरोहित होते नहीं सुनते। दोनों में

आदान-प्रदान बन्द हो गये। कुछ काल से जो 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' विवाह होते आये थे, उनके सम्बन्ध में भी समाज के नेताओं को आपत्ति होने लगी थी। अनुलोम उच्च-वर्ण के पुरुष और नीच-वर्ण की स्त्री के परस्पर विवाह को कहते थे और प्रतिलोम नीच वर्ण के पुरुष और उच्च वर्ण की स्त्री के विवाह को। अब उन विवाहों से उत्पन्न बच्चों को किसी न किसी हद तक संकट माना जाने लगा और ऐसे विवाहों से उत्पन्न लोगों के अपने-अपने वर्ण भी बन गये। इससे वर्णों के बीच की हदें और भी स्पष्ट हो गईं। सबकी अपनी-अपनी रूढ़ियाँ, अपने-अपने आचार-विचार, नियम-उपनियम, विधि-विधान, पेशे आदि बन गये, जिससे आपस के खान-पान, विवाह आदि सभी वर्जित हो गये।

हिन्दू समाज में प्राचीन काल से वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था रही है। वर्ण का उल्लेख किया जा चुका है। आश्रम भी उस समाज के जीवन का आवश्यक अंग था। आश्रम चार थे—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। पहले आश्रम में ब्रह्मचारी गुरुकुल में रहकर वेद का अध्ययन करता था। दूसरे में वह विवाह करके प्रवेश पाता था और गृहस्थ कहलाता था। गृहस्थाश्रम को अन्य सारे आश्रमों की नींव माना जाता था, क्योंकि बाकी सभी आश्रमों का जीवन गृहस्थ के दान पर ही निर्भर करता था। गृहस्थ धन कमाता और समाज का पालन करता था। तीसरा आश्रम वानप्रस्थ कहलाता था, जिसमें प्रवेश करने वालों को मुनियों का जीवन बिताना पड़ता था। पति और पत्नी गृहस्थ का जीवन बिताकर जंगल में चले जाते थे और वहाँ भगवान् का चिन्तन करते थे। चौथा आश्रम संन्यास का था, जिसमें संसार छोड़ देना आवश्यक होता था। एक ही जीवन के ये चारों आश्रम एक के बाद एक भाग थे और उनके अपने-अपने कठोर नियम थे।

पुराने वैदिक काल में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा रहा था परन्तु पिछले वैदिक काल में उनकी दशा धीरे-धीरे गिरती गई। यह सही है कि गार्गी और मैत्रेयी की-सी विदुषी महिलाएँ समाज में थीं, जिससे

जान पड़ता है कि उनकी शिक्षा का कुछ न कुछ प्रबन्ध था। परन्तु सम्भव है कि स्त्रियों की यह आम स्थिति न हो क्योंकि आखिर मैत्रेयी उस काल के महान् ज्ञानी याज्ञवल्क्य की पत्नी थी और गार्गी असाधारण नारी थी। याज्ञवल्क्य की एक दूसरी पत्नी भी थी, जिसका नाम कात्यायनी था और जो पंडिता न थी। याज्ञवल्क्य जैसे महर्षि की दो पत्नियों का होना समाज में बहु-विवाह की प्रथा का प्रमाण है, और उससे भी नारी के अधिकारों की कमी की ओर संकेत मिलता है। वह सम्पत्ति की स्वामिनी शायद न हो सकती थी और उसका थोड़ा-बहुत कमाया हुआ अपना धन उसके पिता, पति या पुत्र को मिलता था। ब्राह्मण-काल में कन्या का जन्म अभाग्य का लक्षण माना जाता था।

इसी सिलसिले में शूद्र की स्थिति की ओर संकेत कर देना भी उचित होगा। नारी की ही भाँति वह भी अनेक सामाजिक अधिकारों से वंचित था और अक्सर उसका उल्लेख भी नारी के साथ ही हुआ करता था। वह समाज के सबसे निचले छोर पर था। उसे वेद आदि पढ़ने का अधिकार न था, यज्ञ करने का अधिकार न था। पिछले काल में तो शूद्र-स्त्रियों से ऊपर के वर्णों का विवाह करना भी निषिद्ध हो गया। शूद्र भूमि का स्वामी नहीं हो सकता था। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि "शूद्र दूसरों के सेवक हैं, और इच्छा के अनुसार रखे और निकाले जा सकते हैं। उनका वध तक किया जा सकता है।"

लोगों की पोशाक और गहने प्रायः वही थे, जो ऋग्वैदिक काल में रहे थे, फिर भी माँस भक्षण और सुरापान का अथर्ववेद में निषेध हो गया। उस वेद ने उनका व्यवहार पाप कहा है। शायद यह उस दार्शनिक आन्दोलन का फल था, जो यज्ञों के विरोध और अहिंसा के पक्ष में तब चल पड़ा था।

उत्तर-वैदिक काल के अन्तिम युग तक लिखने की कला जानी जा चुकी थी। कहाँ से उस काल लोगों ने लिखना सीखा, यह तो कहना कठिन है पर इसमें सन्देह नहीं कि अब किसी न किसी रूप में लिखने का प्रचलन

हो गया था। कुछ लोगों का कहना है कि पश्चिम के विदेशी सौदागरों से उस काल के भारतीयों ने लेखन-कला सीखी, परन्तु इसका कोई प्रमाण प्रकट रूप से नहीं मिलता। इतना ज़रूर है कि देवनागरी के प्राचीन रूप 'ब्राह्मी' का सम्बन्ध सिन्धु-सभ्यता की लिखावट से नहीं किया जा सकता। और जिन मंज़िलों से उसके ब्राह्मी के रूप में विकसित होने का प्रमाण मिलता है, वह भी प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि उस बीच के कम से कम हज़ार वर्षों के बीच के लेखन का हमारे पास कोई सबूत नहीं, जिससे यह कहना असम्भव है कि ब्राह्मी मोहनजोदेड़ो की लिखावट से ही विकसित हुई है। चाहे जहाँ से वह सीखी गई है, पर इसमें सन्देह नहीं कि ईसा से प्रायः ६ सौ साल पहले वह देश में प्रचलित थी।

आर्थिक जीवन

उत्तर-वैदिक काल का प्रधान पेशा कृपि था। खेती के तरीकों में अब तक काफ़ी परिवर्त्तन हो चुका था। हल का आकार और रूप अब तक बदल चुके थे। आश्चर्य है कि जितने बड़े हल उस काल चलाए गये, उतने बड़े फिर कभी न चले। उस काल के साहित्य से पता चलता है कि एक प्रकार के हलों में चौबीस-चौबीस बैल तक जोते जाते थे। खेत में खाद का व्यवहार होता था। अपनी-अपनी ऋतु में जौ, गेहूँ, चावल, दाल, तिल, सभी बोये-काटे जाते थे। कृषि के कार्य में देश की जनता की एक बहुत बड़ी संख्या लगी थी। देश समृद्ध और सुखी था। उसी समृद्धि के परिणाम से दूसरे अनेक पेशे भी चल पड़े थे। सूत (कथा कहने वाले ब्राह्मण और रथ हाँकने वाले सारथी), व्याध, जाल से अपनी जीविका चलाने वाले, गोप, हल चलाने वाले, रथकार (बढ़ई), सुनार, धोबी, रस्सी बनाने वाले, रंगसाज़, जुलाहे, रसोइये, कुम्हार, लुहार, नर्तक, गायक, नट, महावत और अन्य अनेक पेशेवर समाज की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने लगे। फलित ज्योतिष की गणना कर भाग्य बताने वाले भविष्य-वादियों की भी कमी न थी। वैद्य रोगों की चिकित्सा करते थे। नाइयों का भी पेशा खड़ा हो गया था। स्त्रियाँ प्रायः रंगसाज़ी,

सुइकारी और टोकरी आदि बुनने का कार्य करती थीं।

धातुओं का ज्ञान उस काल बहुत बढ़ चला था। ऋग्वेद में सोने का हवाला तो मिलता है पर 'अयस्' किस धातु का संकेत करता है, इसका पता नहीं चलता। उत्तर-वैदिक काल में सोने के अतिरिक्त सीसा, टिन, चाँदी, ताँबा और लोहा भी इस्तेमाल होने लगा था। सोने और चाँदी के गहने और बर्तन बनते थे। सोना नदियों की रेत या कच्चे सोने को गला कर निकाला जाता था। सिक्के का पूरा चलन तो अभी तक न हुआ था पर 'शतमान' नाम का एक प्रकार का सिक्का, जो तौल में गुँज के सौ दानों के बराबर था, अब चल निकला था। पहले की मूल्यवान् गाय की जगह यह 'शतमान' सिक्का अब चलने लगा था।

देश-प्रेम

आर्य बाहर से आये थे, पर यहाँ बस जाने के बाद इस देश की भूमि उनके लिये इतनी प्रिय और पवित्र हो गई कि न केवल उन्होंने अपने पहले के निवासों को भुला दिया बल्कि उनको अपने नये आवास के सामने तुच्छ तथा अपावन भी माना। ऋग्वेद से ही उनका अपनी बसने वाली भूमि के प्रति मोह का पता चल जाता है। उसमें नदियों तक का उल्लेख देवियों के साथ-साथ हुआ है। और उनके प्रति भी आर्य ऋषियों ने अपनी स्तुति के मन्त्र कहे हैं। अफ़गानिस्तान की 'कुभु' (काबुल), 'क्रुमु' (कुर्टम) और गोमती (गोमल), पंजाब की प्राय: सभी प्रधान नदियों और दृशद्वती, सरस्वती, गंगा, यमुना और सरयू के प्रति मधुर मन्त्रों का गायन हुआ है। वह आर्यों के अपने देश के प्रति प्रेम का प्रबल प्रमाण है। असल में तो सूर्य आदि उनके देवताओं का सम्बन्ध भी इस देश की प्रकृति से है, और लुभावनी उषा के-से सुन्दर भारतीय प्रभात का रूप तो अन्यत्र किसी देश में नहीं होता। उस उषा के प्रति आर्यों के वाष्प-गद्गद् कण्ठ से अद्भुत काव्य-भारती प्रादुर्भूत हुई है। परन्तु उत्तर-वैदिक काल के आरम्भ की संहिता, अथर्ववेद में तो देश-प्रेम के सम्बन्ध का एक समूचा सूक्त ही प्रस्तुत करती है। उसके 'पृथिवी-

सूक्त' में भारत की भूमि को ही देवता बनाकर उसके प्रति अपने ऋण को व्यक्त किया गया है।

धर्म और दर्शन

प्राचीन ऋग्वैदिक देवता ही उत्तर-वैदिक काल में भी पूजे जाते थे। अन्तर केवल इतना था कि जो पहले प्रधान देवता थे, वे अब गौण बन गये और जो कभी गौण थे, वे अब महान् बन गये। प्रजापति का ब्राह्मण ग्रंथों में ऊँचा स्थान है। रुद्र और विष्णु की आराधना सर्वत्र होने लगी थी। विष्णु ऋग्वेद में सूर्य का एक रूपमात्र है। वहाँ उसकी पूजा की प्रधानता नहीं है। वही दशा रुद्र की पूजा की है। परन्तु रुद्र इस काल प्रबल हो गया। वह महादेव कहलाने लगा और उसके कल्याणकर रूप में लोगों का विश्वास जमा। अब वह शिव कहलाया।

देवताओं की संख्या ब्राह्मण ग्रंथों में पहले की-सी इस कारण भी है कि ब्राह्मणों का सीधा सम्बन्ध वैदिक यज्ञों के देवताओं से है। परन्तु उपनिषदों की स्थिति बिल्कुल स्वतन्त्र है, और उनके साथ भारतीय संस्कृति के इतिहास में चिन्तन और दर्शन का आरम्भ होता है। ऐसा नहीं कि ऋग्वेद में दर्शन और चिन्तन के बीज बिल्कुल हों ही नहीं पर प्रधानता उसमें धर्म के बाहरी अंग यानी यज्ञ-पूजा आदि की उपनिषद् यज्ञों की हिंसा-विरोधी परम्परा को लेकर बढ़े। वैदिक धर्म में पुरोहितों का बड़ा प्राबल्य था, जो उन हिंसा भरे यज्ञों को ही महत्त्व देते थे। परन्तु शीघ्र ही धर्म के क्षेत्र में एक दूसरे दल की बुद्धि जगी। श्रीमानों और विचारवान् राजाओं के ख़र्चीले यज्ञ आख़िर बहुत काल तक रुचिकर नहीं हो सकते थे। उधर ब्राह्मणों के, कर्मकाण्ड को समूचा अपने हाथ में कर लेने के कारण, अध्यात्म की परम्परा उनसे छूट गई। पर जिन राजाओं के पास अवकाश था, चिन्तन की प्रवृत्ति थी, वे उस परम्परा का उद्धार करने को तैयार हो गये और वे अपने चारों ओर के विषयों, संसार, जन्म, मरण, जीव की उत्पत्ति और उसके स्वभाव आदि के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगे और धीरे-धीरे उपनिषदों का ज्ञान, रूप

धारण करने लगा। इस प्रकार के चिन्तन का एक आन्दोलन ही चल पड़ा और क्षत्रिय उस आन्दोलन के नेता हुए। अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैवलि, अजातशत्रु काशी और जनक विदेह उस परम्परा के नेता थे। अनेकानेक ऋषि उनके शिष्य बने और उन्होंने नये चिन्तन का ज्ञान ब्राह्मण-ऋषियों को दिया। जनक विदेह ने जब उद्दालक आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु और याज्ञवल्क्य को अपने प्रश्नों से निरुत्तर कर दिया। तब याज्ञवल्क्य ने तो जनक को ही गुरु बना कर प्रश्नों का समाधान सीखा और श्वेतकेतु ने जब वही प्रश्न अपने पिता से किया। तब पिता उत्तर न दे सकने के कारण पुत्र के लिए शिष्य के रूप में अश्वपति कैकेय के पास पहुँचा। फिर कैकेय के उस राजा ने उन ब्राह्मण ऋषियों के साथ क्षत्रिय होकर भी वैसा बरताव किया, जैसा क्षत्रिय को शिष्य के रूप में स्वीकार करते समय ब्राह्मण गुरु उसके साथ किया करते थे। उसने उनसे कहा—'समित्पाणी भव'। अर्थात् हाथों में समिधा धारण करो। जब विद्यार्थी गुरु के पास जाता था, तब समिधा या कच्ची लकड़ी लेकर जाता था, जिसका अर्थ था, उसका कच्चा ज्ञान, और गुरु उसको अपने ज्ञान से प्रज्वलित कर देता था, उसको विदग्ध बना देता था। इस प्रकार अश्वपति कैकेय ने दोनों ऋषियों को अपना शिष्य मानकर गुरुवत् ज्ञान दिया। उसी प्रकार अजातशत्रु ने भी दृप्त वालाकि को ज्ञान दिया था।

उसी उपनिषद् काल में काशी के ब्रह्मदत्त कुल में राजा अश्वसेन हुआ, जिसके पुत्र पार्श्व ने गद्दी त्याग कर संन्यास लिया और जैन धर्म के जिन पांच तत्त्वों का आगे चलकर वर्द्धमान महावीर ने प्रचार किया था, उनमें से चार का उसने महावीर से लगभग डेढ़-दो सौ वर्ष पहले प्रचार किया। महावीर और बुद्ध भी उसी परम्परा में, उसी वेद, यज्ञ, हिंसा, पुरोहिताई विरोधी परम्परा में, उपनिषत्काल के अन्त में हुए। तीनों राजकुल या सम्भ्रान्त कुल के थे। तीनों क्षत्रिय थे। तीनों ब्राह्मण-विरोधी थे।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस काल के चिन्तन-दर्शन में ब्राह्मणों का हाथ कतई न था। उद्दालकआरुणि, श्वेतकेतु आसणेय, याज्ञवल्क्य, दृप्तबालाकि, सत्यकाम जावालि आदि ब्राह्मण ही थे, और उपनिषत्काल के जाने हुए विचारक। याज्ञवल्क्य तो उस समय का सही मान्य दार्शनिक था। उपनिषत्काल के, विशेष कर क्षत्रिय चिन्तकों ने यज्ञों के प्राणि-वध के विरुद्ध आवाज़ उठाई। मुण्डक उपनिषद् में यज्ञ-कर्त्ताओं को मूर्ख तक कहा गया है। 'बृहदारण्यक' तो यज्ञ करने वालों को देवताओं का पशु कहता है। उन्हीं चिन्तकों ने ज्ञान को प्रधान मानकर 'छान्दोग्य' और 'बृहदारण्यक' जैसे उपनिषदों की रचना की, जिनसे कालान्तर में, बाद के दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व और उत्तर मीमाँसा की नींव पड़ी। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की तर्क-युक्त खोज तभी शुरू हुई। सृष्टि का अर्थ, आत्मा का रूप जानने के लिये उन्होंने प्रयत्न किये और उस एक ब्रह्म की मीमाँसा की, जो उपनिषद्-विद्या का प्राण है। उन्होंने घोषणा की कि सत्यज्ञान ही मोक्ष का साधन है और आत्मा का अपने रूप को पहचान कर परमात्मा में लय हो जाना ही उस मोक्ष का स्वरूप है। उस वेदान्त का प्रसिद्ध नारा उन्होंने 'तत्त्वमसि' में रखा। इस सिद्धन्त की रीढ़ थे—आत्मा के पुनर्जन्म का प्रतिपादन और कर्म-सिद्धन्त का निरूपण। भाव यह था कि जब तक ज्ञान से कर्मों का दहन नहीं हो जाता, तब तक जन्म-मरण के बन्धन नित्य सिद्ध होंगे। उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। वह इसलिये कि एक तो वे वेदों के अन्त में आये, दूसरे उस आन्दोलन के वे स्रोत थे, जो अगली सदियों में इस देश में चला और यहाँ के विश्वास को जिसने प्रभावित किया।

नया साहित्य

ऐसा नहीं कि उपनिषदों का बनना तब बिल्कुल बन्द हो गया हो। उपनिषद् बाद में भी बनते रहे थे। परन्तु निःसन्देह प्रधान उपनिषद्, जिनकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है, अब तक बन चुके थे।

उपनिषदों के बाद ही एक प्रकार के नये साहित्य का आरम्भ हुआ - जिसे सूत्र-साहित्य कहते हैं। वेदों का अर्थ अब लुप्त होता जा रहा था और उनको समझना कठिन हो रहा था, जिससे ऐसे ग्रंथों की ज़रूरत पड़ी, जो वेदों को पढ़ने और समझने में सहायक हो सकें। ऐसे ग्रंथों में जो सबसे पहले बने, उनको वेदांग कहते हैं। वेदांग छः हैं—व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष इनमें विशिष्ट वे ग्रंथ हैं, जो व्याकरण, निरुक्त आदि के सम्बन्ध में लिखे गये हैं। निरुक्त शब्दों के अर्थ और व्याख्या-सम्बन्धी कोष हैं। इनमें यास्क का निरुक्त शब्दार्थ पर खोज और गद्यात्मक विचार उपस्थित करता है। वह ईसा से पहले छठी-सातवीं सदी में लिखा गया। तभी व्याकरण के ग्रंथ भी लिखे जाने लगे। पाँचवी सदी ई० पू० का वैयाकरण पाणिनि आज भी संस्कृत में प्रमाण माना जाता है। यास्क के बाद ही इन धर्म-श्रौत और गृह्य सूत्रों की परम्परा चली, जिन्होंने कुल, जाति और धर्म के सम्बन्ध में विविध नियम रचे और जिनके आधार पर बाद के धर्म-शास्त्र भी रचे गये। यह कल्प-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। 'शिक्षा' में वैदिक मन्त्रों के उच्चारण आदि की व्यवस्था थी। और 'छन्दस्' में वेदों के छन्दों का विवेचन। 'ज्योतिष' सम्बन्धी जो अनेक मन्त्र वेदों में मिलते हैं, उनको समझने में ज्योतिष का अध्ययन सहायक हुआ। इन ग्रंथों की शैली सूत्रों की थी। सूत्र, सूत को कहते हैं, जिससे आगे का भेद खुल जाए। सूत्र लम्बी से लम्बी व्याख्या या नियम को कम से कम एक में एक गुथे शब्दों को कहते थे। उनकी एक मात्रा बचा लेने में सूत्रकार को पुत्रोत्पत्ति का सुख मिलता था। सूत्रों की भाषा सचमुच बड़ी कठिन थी।

पाँचवाँ अध्याय

सूत्र और धर्मशास्त्र

सूत्र-साहित्य

सूत्रों की शैली विशेषकर इसलिए चली कि उनको रट कर याद करने में बड़ी आसानी होती थी। वह ज़माना रट कर ही याद करने का था। लिपि का ज्ञान लोगों को हो गया था और लोग लिखने भी लगे थे, पर जान पड़ता है कि अभी उसका प्रचलन काफ़ी न था, जिससे रट कर याद कर लेने में सहूलियत होती थी। वेदों को रट कर ही याद किया जाता था। और उनको सुनकर याद करने के कारण ही उनका नाम 'श्रुति' यानी सुनी हुई बात पड़ा। वह याद करने वाली परिपाटी वेदों तक ही सीमित न रह सकी। अन्य ग्रंथ और विषय भी रटकर, दूसरों से बोले जाने पर सुनकर, याद किये जाते थे। यज्ञ की क्रियाओं और उस सम्बन्ध के साहित्य को भी याद करना पड़ता था, जिसकी ज़रूरत कर्म-काण्ड में रोज पड़ती थी। और चूँकि याद करने में सूत्र आसान होते हैं, इसलिये लम्बे नियम एक साथ जोड़कर सूत्र के रूप में संक्षिप्त कर लिए गए। सूत्रों की विशेषता उनके संक्षिप्त या छोटे होने में थी। वे संकेत रूप में रचे जाते थे, जिससे उनको भी समझने के लिये बड़े-बड़े भाष्यों की आवश्यकता पड़ती थी। उनसे बड़ी आसानी से प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के पाठ भी सुरक्षित रखे जा सकते थे। सूत्रों की शैली में उस काल अनेक ग्रंथ रचे गये। वह सूत्र-काल ईसा से करीब ७०० वर्ष पहले शुरू होकर लगभग दूसरी सदी ई० में समाप्त हुआ। इस तरह उसका आरम्भ बौद्ध-धर्म के आरम्भ के साथ-साथ या उससे कुछ ही पहले हुआ।

पाणिनि

सूत्र-काल का सबसे महान् व्यक्ति और सूत्रों का रचयिता पाणिनि हुआ, जिसने व्याकरण का सबसे सुन्दर ग्रन्थ सूत्र-शैली में 'अष्टाध्यायी' लिखा। 'अष्टाध्यायी' अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से लिखी हुई है, जो आज भी संस्कृत भाषा में व्याकरण के क्षेत्र में सबसे ऊँचा प्रमाण मानी जाती है। पाणिनि के समय के विषय में काफ़ी मतभेद है। ईसवी पू० ७ वीं सदी से लेकर पाँचवी-चौथी सदी तक उसका समय आँका जाता है। एक परम्परा के अनुसार पाणिनि मगध-सम्राट् महापद्मनन्द के समकालीन और उनकी सभा के सभ्य थे। पाणिनि पठान ब्राह्मण थे और पठानों के देश यूसुफ़ज़ई के शलातुर गाँव के रहने वाले थे, जो मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में आ बसे थे।

'अष्टाध्यायी' है तो व्याकरण का ग्रन्थ पर उससे भारत की उस काल की संस्कृति और जीवन पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। उसमें कलिंग, अवन्ति, कच्छ आदि २२ जनपदों के नाम गिनाए गये हैं। उससे पता चलता है कि देश में अनेक प्रांत, नगर और गाँव आदि थे। साधारण तौर पर शासन राजाओं के हाथ में था पर पंचायती राज्य भी अनेक थे, जो गण और संघ कहलाते थे। राजा राज्य के मामले में सब के ऊपर था और उसके नीचे अनेक अधिकारी काम करते थे, जैसे विभागों के अध्यक्ष, कानून के पदाधिकारी व्यवहारिक, युक्त आदि। व्याकरण के उस ग्रंथ से और भी पता चलता है कि आम लोगों का पेशा कृषि था, पर अनेक लोग नौकरी (जानपदवृत्ति) भी करते थे। साथ ही श्रमिक तथा आयुधजीवी वे लोग थे, जो अपनी जीविका अस्त्र से कमाते थे। तात्पर्य यह है कि वे लोग धन लेकर दूसरों के लिये लड़ा करते थे। आयुधजीवियों के संघ भी हुआ करते थे। ऐसे ही आयुधजीवी छायार्ष की ओर से ग्रीस में लड़े थे और दारा की ओर से लड़कर सिकन्दर से हारे थे। लगता है कि इन्हीं में से कुछ लोग बाद में यौधेय कहलाये और संघ बनाकर पंजाब में बस गये। यौधेय नाम से भी प्रकट है कि अगर

संघ बनाने के बाद नहीं, तो कम-से कम उसके पहले उनका पेशा युद्ध ज़रूर रहा था और वे कभी आयुधजीवी ही रहे थे। यौधेयों ने बाद में सिकन्दर से भी युद्ध किया था और पीछे चलकर वही जोहिया राजपूत कहलाये। युद्ध के अतिरिक्त व्यवसाय ने भी काफ़ी उन्नति कर ली थी। ब्याज पर धन ऋण दिया जाता था। कपड़े की बुनाई, रंगसाज़ी, बढ़ई-गिरी, चर्मकार्य, शिकार, कुम्हार का काम आदि सभी होते थे। उस समय 'पूगों' अर्थात् व्यापारिक संघों का भी चलन था। श्रम को विभाजित और संघटित कर लेने से व्यवसाय की खासी उन्नति हुई; समृद्धि बढ़ी और देश के कानून के प्रति लोगों का आदर बढ़ा क्योंकि इन संघों-पूगों आदि के अपने-अपने नियम-विधान होते थे, जिनसे उनके सदस्य का पूरा-पूरा बँध जाना ज़रूरी होता था।

कल्प-सूत्र

ऊपर वेदांगों का ज़िक्र किया जा चुका है। उनमें से एक वेदांग 'कल्प', का कुछ विस्तार से वर्णन आवश्यक है। कल्प धर्म-सम्बन्धी सारे सूत्रों को कहते थे। इनके तीन वर्ग थे। १—श्रौत-सूत्र, २—गृह्य-सूत्र और ३—धर्म-सूत्र। श्रौत-सूत्र प्रधान रूप से वेदों के सोम-यज्ञों और दूसरे धार्मिक विषयों से सम्बन्ध रखते थे। इस प्रकार वे प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थों की ही परम्परा में उनके उपसंहार या परिशिष्ट जैसे थे। फिर भी यह महत्व की बात है कि वे वेदों की तरह श्रुति या अपौरुषेय नहीं माने जाते थे। श्रौत-सूत्रों के बाद ही गृह्य-सूत्रों की रचना हुई। उनका सम्बन्ध गृहस्थों की पूजा से था, गृह-मेध, व्रत, अनुष्ठान आदि से। विविध यज्ञों की वे क्रियाएँ, जो गृहस्थ के रोज़मर्रा के जीवन से सम्बन्ध रखती थीं, इन गृह्य-सूत्रों के विषय बनीं। गृह्य-सूत्रों में द्विजातियों के संस्कारों का वर्णन है। द्विजाति या द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को कहते थे, जिनके संस्कार होते थे। मुख्य संस्कार थे—पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, चूडाकर्म ? उपनयन, समावर्त्तन, विवाह, पंचमहायज्ञ, अतिथियों के अनुष्ठान, अन्त्येष्ठि आदि

पुंसवन गर्भाधान होने पर पुत्रोत्पत्ति के लिये किया जाता था, जातकर्म बच्चा पैदा होने के बाद का जन्म-संस्कार था। नामकरण, बच्चे का नाम रखने की क्रिया को कहते थे। चूडा कर्म, पहली बार बच्चे के सिर के बाल काटने के संस्कार का नाम था। उपनयन, यज्ञोपवीत उस संस्कार को कहते थे, जिसमें बालक जनेऊ धारण कर गुरु के यहाँ वेद पढ़ने जाता था। समावर्त्तन गुरु के यहाँ से पिता के यहाँ लौटने का संस्कार था और विवाह, पत्नी स्वीकार कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का। इस प्रकार संस्कार मनुष्य के गर्भ में आने के पहले से लेकर उसके मरने के बाद तक हुआ करते थे। गृह्य-सूत्रों में इन संस्कारों का भी वर्णन है। कौशिक-सूत्र में व्याधियों को दूर करने के मन्त्र भी दिये हुए है। इन सूत्रों से हमें उस काल में गृहस्थ की नित्य की क्रियाओं, रीति-रवाज आदि का पता चलता है।

धर्म-सूत्र

गृह्य-सूत्रों से ही मिलते-जुलते धर्म-सूत्र भी हैं। परन्तु जहाँ गृह्य-सूत्रों का गृह और कुल-धर्मों से अधिक सम्बन्ध है, वहाँ धर्म-सूत्रों का अधिक सम्बन्ध समाज से है। वे पूरे समाज के आचार की व्यवस्था करते हैं। उनका सम्बन्ध नित्य की सामाजिक और नैतिक रीतियों-प्रथाओं से है। धर्म-सूत्रों में ही पहली बार सही-सही क़ानून की व्यवस्था हुई है। कानून—दीवानी और फौज़दारी—का उस काल का नाम 'व्यवहार' था। परन्तु उनमें सामाजिक धर्म की व्यवस्था, सामाजिक नैतिकता से अधिक है। सबसे प्राचीन धर्म-सूत्र गौतम, बौधायन और आपस्तंब के रचे हुए हैं। गौतम मुनि का समय ई० पू० ५०० से पहले है। बौधायन भी करीब-करीब उसी काल हुए। आपस्तंब शायद १०० बरस बाद ४०० ई० पू० के लगभग हुए। बौधायन और आपस्तंब दक्षिण के ब्राह्मण थे, गौतम उत्तर के। इन तीनों के अतिरिक एक और जाने हुए धर्म-सूत्रकार वसिष्ठ थे। आज की 'मनुस्मृति' या मानव-धर्मशास्त्र के आधार मनु के धर्म-सूत्र भी उसी काल कभी बने थे। मनु के धर्म-सूत्र तो अब नहीं

मिलते पर उन्हीं के अनुसार बना उनका धर्म-शास्त्र 'मनुस्मृति' के नाम से प्रसिद्ध है।

वर्णाश्रम-धर्म

धर्म-सूत्रों का अध्ययन उस काल की समाज की स्थिति पर सविस्तर प्रकाश डालता है। उससे प्रकट है कि वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा समाज में पूरे तौर से हो गई थी। सूत्रों में सभी वर्णों के अपने-अपने कर्त्तव्य दिये हुये हैं। वर्णों की पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा था। उनके खान-पान, विवाह आदि के सम्बन्ध में बड़ी सतर्कता रखी जाने लगी। उस सम्बन्ध में एक वर्ण के व्यक्ति का दूसरे वर्ण में विवाह और वर्णों का परस्पर खान-पान का बन्द हो जाना, इन्हीं धर्म-सूत्रों की व्यवस्था का परिणाम था। अब उनके विधान के अनुसार एक वर्ण दूसरे के साथ विवाह, भोजन आदि नहीं कर सकता था। छुआ-छूत का विशेष प्रकार से तब विधान हुआ और समाज में एक-दूसरे को छूने-न छूने, उसका छुआ भोजन करने-न-करने की व्यवस्था हो गई। जूठा भोजन भी वर्जित हुआ, और जो इस अनाचार के विरुद्ध आचरण करता, उसे वर्ण से बाहर कर दिया जाने लगा। नतीजा यह हुआ कि अनेक लोग तब अपने जन्म के वर्ण से टूट कर अलग हो गये और समाज के उपेक्षित बन गये। इन बातों के सम्बन्ध में सूत्रों में बड़े कठोर नियम वना लिये गये। फिर भी सभी सूत्रकार इस सम्बन्ध के सभी प्रसंगों पर एकमत नहीं हैं। कुछ सूत्रकार वर्ण-विवाह, भोजन आदि के आचारों के तोड़ने के विरुद्ध बड़ी कठोर व्यवस्था देते हैं, कुछ नरमी से प्रायश्चित्त और दण्ड का विधान करते हैं। अधिकतर पहले वाले सूत्रकार बाद वाले सूत्रकारों से ज्यादा उदार हैं, अर्थात् उनका विधान इन धार्मिक अपराधों के ख़िलाफ़, बाद वाले सूत्रकारों की अपेक्षा नरम है। उदाहरणतः गौतम को द्विजमात्र यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का परोसा या छुआ हुआ भोजन ब्राह्मण के खाने में आपत्ति नहीं है। वह आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण को शूद्र द्वारा दिया भोजन भी

अनुचित नहीं मानते। उनके मत से ब्राह्मण नीच कुल में उत्पन्न हुई कन्या का भी पाणिग्रहण कर सकता था। हाँ, यदि उस ब्राह्मण की दूसरी पत्नियाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुलों की हुईं तो गौतम की राय में इस शूद्रा पत्नी का स्थान उन सबसे नीचे होगा। उससे उत्पन्न सन्तति भी वर्ण-संकर या 'अनुलोमज' मानी जाएगी। विवाह के सम्बन्ध में लड़के-लड़की की कुलों में दूरी भी निश्चित कर दी गई। समान-गोत्र (कुल) और माता की छः पीढ़ियों तक के सम्बन्धी कुलों में विवाह करना वर्जित हो गया। पहले अनेक राज-कुलों में चचेरी बहन, मौसेरी और ममेरी बहनों से विवाह होता आया था। जो अब बन्द हो गया था। परन्तु दक्षिण में इस प्रकार के विवाह भी चलते रहे और आज भी वहाँ मामा की लड़की के साथ विवाह होता है। इससे प्रगट है कि धर्म-सूत्रों में आचार नियमों में अन्तर अधिकतर स्थान विशेष के अपने-अपने रिवाज और प्रथाओं के कारण ही पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म-सूत्रों के विधान ने समाज को अनेक ऊँची-नीची जातियों में बाँट दिया, और चारों वर्णों के अलावा अनेक जातियाँ ऐसी बन गईं, जो समाज और गाँव-नगर से बाहर रखी जाने लगीं, जिनके साथ लोगों को साधारण मनुष्य का बर्ताव करने में भी संकोच होने लगा और जो उपेक्षित तथा अत्यन्त अभागी बन गई थीं। संसार में कहीं मनुष्यों की इतनी बड़ी संख्या इतनी दयनीय दशा में कभी नहीं रही। धर्म-सूत्रों ने समुद्र-यात्रा और विदेशी भाषाओं का पढ़ना आदि भी निषिद्ध कर दिया। धर्म-सूत्रों में आश्रमों की व्यवस्था, उनके आचार-नियम आदि काफ़ी विस्तार से दिये हुए हैं। परन्तु यह विश्वास करना कठिन है कि सभी गृहस्थ अपनी पचास वर्ष की अवस्था में घर-बार छोड़कर यती-संन्यासी हो जाते थे। हाँ, इतना ज़रूर है कि तब यती-संन्यासियों की संख्या देश में काफ़ी थी और अनेक लोग समाज के कल्याण और सत्य की खोज के लिये संन्यास लेकर घूमा करते थे।

राजा, कर और कानून

धर्म-सूत्र जहाँ साधारण-जनता के धर्म और कर्त्तव्य का उपदेश करते हैं, वे राजाओं के धर्म और आचरण के सम्बन्ध में भी चुप नहीं हैं, और उन्होंने उनके कर्त्तव्य का भी विस्तार से निरूपण किया है। उनमें कर, कानून और दण्ड-विधान आदि सभी का क़ाफी वर्णन हुआ है। हमने देखा है कि ऋग्वेद के आरम्भ के काल में राजा जनता द्वारा चुना जाता था और 'सभा' और 'समिति' उसकी स्वेच्छाचारिता पर अंकुश का काम करती थी। राजा को अपने अभिषेक के समय की हुई प्रजा-पालन की प्रतिज्ञा को उचित रीति से निबाहना पड़ता था, पर धीरे-धीरे राजा प्रबल और निरंकुश होता गया और जनता के प्रतिनिधि उसे अपनी मर्यादा के भीतर न रख सके। इसी से समय-समय पर जब-जब शास्त्र वग़ैरह के विधान हुए, तब-तब राजा के अपनी उचित सीमाओं में बने रहने और राजधर्म का समुचित पालन करने पर ज़ोर दिया गया। उस सम्बन्ध में धर्म-सूत्रों ने भी राजा का अनुशासन किया। राजा कहाँ तक उस अनुशासन की व्यवस्था मानता था, यह कहना तो कठिन है पर अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि बहुत कुछ वैसा करना राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर करता होगा। यदि मन्त्री और प्रजा के प्रतिनिधि कमज़ोर हुए या राजा शक्तिमान् हुआ, तो निश्चय अपना कर्त्तव्य न समझने वाला राजा नियमों की अवहेलना कर स्वेच्छाचारी हो सकता था। इसके विरुद्ध कमज़ोर राजा मन्त्रियों के हाथ की कठपुतली भी बन सकता था। अपना कर्त्तव्य समझने वाले और शास्त्र का अनुशासन मान कर चलने वाले राजाओं का होना भी असम्भव न था। वस्तुतः प्रमाण मिलता है कि तीनों प्रकार के राजा समय-समय पर भारतीय समाज में होते गये। धर्म-सूत्रों ने राजा के जिन कर्त्तव्यों का विधान किया है, वे इस प्रकार हैं—अपराधियों को दण्ड देना, सभी प्रकार की आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करना, श्रोत्रियों (कर्मकाण्डी ब्राह्मणों), विद्यार्थियों और व्याधिग्रस्तों आदि को भोजन आदि देना, भक्तों को पुरस्कृत करना,

न्याय करना, युद्ध में वीरतापूर्वक सेना का संचालन करना आदि। राजा अपने महल में रहता था और महल पुर या नगर में बना होता था। गाँव और नगर के शासन और प्रजा की रक्षा के लिये ईमानदार तथा योग्य पदाधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इन पदाधिकारियों के सम्बन्ध में कानून काफ़ी कठोर थे। यदि वे ग्रामीणों और नागरिकों की रक्षा न कर सकते थे, तो उनके चुराये माल की कीमत इन्हें अपने पास से देनी पड़ती थी।

राजा प्रजा की रक्षा के बदले और शासन तथा अपने ख़र्च के लिये प्रजा पर खेतों की उपज के छठे भाग से दसवें भाग तक कर लगाता था। गौतम-धर्म-सूत्र के अनुसार वह कारीगरों या शिल्पियों से महीने में एक दिन काम करा सकता था और सौदागरी की चीज़ों पर आय का बीसवाँ भाग, पशुओं और सुवर्ण पर पचासवाँ भाग और कन्द, मूल फल, फूल, औषधि, मधु, माँस, घास और ईंधन पर आय का साठवाँ भाग लेता था।

भारतीय-शासन-विधान में प्रधान बात यह थी कि उसके 'व्यवहार' या क़ानून का उद्गम राजा न था, शास्त्र और जनता के रीति-रिवाज थे। गौतम अपने सूत्र में कहते हैं कि व्यवहार (क़ानून) का आधार श्रुति (वेद) अथवा वे ग्रन्थ हैं, जिनमें श्रुतियों की स्मृति (याद) और परम्परा सुरक्षित है। यह भी कहा गया है कि न्याय वेदों, धर्म-विधानों, वेदांगों, पुराणों, जनपदों के विशेष नियमों और रीति-रिवाजों, वर्ण और कुलधर्मों (जहाँ वे धर्म-ग्रन्थों के विरोध में नहीं हैं), कृषकों, गोपों, सौदागरों, ब्याज कमाने वालों और शिल्पियों के व्यावहारिक नियमों के अनुसार होना चाहिये। उन दिनों शिल्पियों के 'संघ' और 'श्रेणी' बने हुए थे, जिनके अपने-अपने नियम थे। राजा को श्रेणियों के नियमों का आदर करना होता था और उनके व्यवहार (क़ानून) के अनुकूल ही वह शासन करता था।

धर्म-सूत्र पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार (विरासत) और स्त्रियों के

अधिकार पर भी काफ़ी प्रकाश डालते हैं। स्त्रियाँ वैदिक या उपनिषद् काल की नारियों की अपेक्षा अधिक हीन हो गई थीं। अपने अधिकार से न वे यज्ञ कर सकती थीं और न सम्पत्ति की स्वामिनी ही हो सकती थीं। उनके पढ़ने-लिखने का निषेध हो ही चुका था। न्याय का वितरण भी सबके प्रति समान रूप से नहीं होता था। विविध वर्णों तथा व्यक्तियों के लिये एक ही अपराध के दण्ड भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। उसी अपराध के लिये शूद्र को शारीरिक दण्ड या भारी जुर्माना किया जाता था परन्तु ब्राह्मण या तो बेदाग छूट जाता था या उस पर साधारण जुर्माना होता था। ब्राह्मण को प्राणदण्ड भी वर्जित था। क़ानून की इस असमानता का कारण शायद यह था कि धर्म-सूत्रों और उनके दण्ड-विधान के बनाने वाले ब्राह्मण ही थे।

धर्म-शास्त्र

धर्म-सूत्रों के लिखे जाने के कुछ काल बाद धर्म-शास्त्रों का साहित्य बना। अधिकतर धर्म-शास्त्र धर्म-सूत्रों के आधार पर ही बने और उनमें से अनेक तो उन्हीं ऋषियों के बनाये कहे जाते हैं, जिन्होंने कभी धर्म-शास्त्र रचे थे। धर्म-सूत्रों और धर्म-शास्त्रों में एक विशेष अन्तर यह भी था कि जहाँ धर्म-सूत्र सूत्र-शैली में लिखे गये हैं, वहाँ धर्म-शास्त्र श्लोक शैली में बने। धर्म-शास्त्र ही आज के हिन्दू कानून के वास्तविक स्रोत हैं। उस काल की ब्राह्मण-संस्कृति और संस्थाओं पर भी धर्म-शास्त्रों से प्रकाश पड़ता है। उनमें प्रधान मानव-धर्म-शास्त्र (मनुस्मृति), विष्णु-धर्म-शास्त्र (विष्णुस्मृति), याज्ञवल्क्यस्मृति और नारदस्मृति हैं। जैसा उनके नाम से प्रकट है, वे मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य और नारद के विधान को व्यवस्थित करती हैं। मनुस्मृति दूसरी सदी ई० पू० के लगभग बनी, विष्णुस्मृति मनुस्मृति के बाद लिखी गई। वह सूत्र-शैली में लिखी गई है और सूत्र-शैली में लिखे शास्त्र अधिकतर पहले के हैं परन्तु विष्णुस्मृति मनुस्मृति के ऊपर ही अवलम्बित होने के कारण निःसन्देह उसके पीछे की है। याज्ञवल्क्यस्मृति मिथिला प्रान्त

(उत्तर विहार) में रची गई और लगभग चौथी सदी ई० की है। नारदस्मृति का रचनाकाल उसके भी बाद प्रायः पाँचवीं सदी ई० है। इसके अलावा कुछ और छोटी-मोटी स्मृतियाँ हैं, जो समय-समय पर बनती गईं और आवश्यकता के अनुसार समाज के विधान बनाती गईं। स्मृतियों के अतिरिक्त उन पर कुछ टीकाएँ और व्याख्यायें भी लिखी गईं, जो स्मृतियों की ही भाँति पूज्य मानी गईं। कुछ काल बाद तो उनका आदर और महत्व स्मृतियों से भी बढ़ गया और जब-जब उनमें और स्मृतियों के दृष्टिकोण में फ़रक पड़ा, तब-तब उन्हीं को प्रमाण माना गया। इसका कारण यह था कि वे बदलती हुई देश और काल की स्थिति तथा आवश्यकता के अनुकूल बनी थीं। इनमें प्रसिद्ध 'मिताक्षरा' और 'दायभाग' हैं।

धर्म-शास्त्रों का वर्णाश्रम धर्म

धर्म-सूत्रों की ही भाँति धर्म-शास्त्रों के समाज का आधार भी वर्ण-व्यवस्था ही थी। वर्ण के ही विविध अंग भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों और अधिकारों से युक्त थे। मनु के अनुसार ब्राह्मणों का धर्म पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना था। क्षत्रियों का कर्त्तव्य, शासन और प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और युद्ध करना था। इसी प्रकार वैश्यों का धर्म कृषि, पशुपालन, व्यापार, ब्याज पर धन उधार देना और यज्ञ करना था। परन्तु धीरे-धीरे वैश्यों के हाथ से यज्ञ करना, कृषि आदि निकले जा रहे थे और व्यापार तथा ब्याज पर रुपया चलाने के काम ही समाज में उनके विशेष आकर्षण बनते जा रहे थे। पशु-पालन और खेत में हल चलाना आदि अब शूद्रों या उनसे मिलते-जुलते निचले वर्ग के लोगों के काम हो चले थे। शूद्र द्विजातियों के सेवक थे और उनका काम नौकरी और शारीरिक सेवा तक रह गया था। स्मृतियों में उन संकर वर्णों का भी विस्तार-पूर्वक उल्लेख है, जो असमान वर्ण के परस्पर विवाह या अन्य ग़ैरक़ानूनी तरीक़ों से उत्पन्न होते थे। समाज में अनेक प्रकार के अछूत भी थे, जो मलेच्छ, चाण्डाल,

श्वपच आदि कहलाते थे। धर्म-शास्त्रों में पहली बार उनकी तालिका दी गई और उनकी उत्पत्ति और स्थिति की परिभाषा हुई। धर्म-सूत्रों की ही भाँति धर्म-शास्त्रों में भी चारों आश्रमों का विधान हुआ और उनकी विधि-पूर्वक चर्चा हुई। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य का था। वह अध्ययन का समय था और उसका आरम्भ उपनयन संस्कार के साथ होता था। उसके आरम्भ के विषय में कोई विशेष आयु स्थिर नहीं की गई है। अभी तक वह आयु, बालक की बुद्धि, परिस्थिति और वर्ण पर निर्भर करती थी। उपनयन हो जाने के बाद बालक गुरुकुल में जाकर, पिता-तुल्य गुरु के साथ रहकर उससे वेद, वेदांग, दर्शन आदि पढ़ता था। उसके अध्यापक, आचार्य, उपाध्याय आदि कहलाते थे। ब्रह्मचारी का जीवन, तप और नियमों से जकड़ा होता था। उसे श्रम-पूर्वक पढ़ना, पूजा और अग्निहोत्र करना, भिक्षा और गुरु के लिये लकड़ी, जल आदि लाना पड़ता था। अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद उसका समावर्त्तन होता था यानी जो वह अब तक गुरु के यहाँ था, अब अपने अधिकार से समाज में प्रवेश करता था और विवाह करके गृहस्थ बन जाता था। धर्म-शास्त्रों में गृहस्थ के तीन ऋण बताए गये हैं—देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण। देव-ऋण का अर्थ, यज्ञ करना था, ऋषि-ऋण का पढ़ना, पढ़ाना और पितृ-ऋण का पुत्र उत्पन्न करना। इन कर्मों को कर लेने के बाद गृहस्थ उन ऋणों से उऋण होता था। गृहस्थ का आश्रम चारों आश्रमों में सबसे अधिक महत्त्व का था, क्योंकि बाकी तीनों आश्रमों का वही जीवन-आधार था। वानप्रस्थ को घर-सम्पत्ति छोड़कर पत्नी को साथ लेकर वन की शरण लेनी पड़ती थी। जहाँ वह कन्द-मूल-फल पर अपना निर्वाह करता था। संन्यास लेकर मनुष्य संसार से नाता तोड़ मोक्ष-साधन के लिये ध्यान, तप आदि करता था। भिक्षा से जो कुछ मिल जाता, उसे ही खाकर वह धर्म और सत्य की खोज में लग जाता था।

नारियों की अवस्था

मनु ने सिद्धान्त रूप में नारियों का स्थान बहुत ऊँचा रखा है। उनका कहना है कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं, और जहाँ उनके लिये सम्मान का भाव नहीं होता, वहाँ सारी यज्ञ आदि क्रियाएँ निष्फल हो जाती हें।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वा तत्राफला. क्रियाः॥"

पर वास्तव में ऋग्वैदिक-काल के बाद बराबर उनकी स्थिति बिगड़ती चली गई और उनका स्थान कम से कम सम्पत्ति के अधिकार, शिक्षा आदि में लगभग शूद्रों के बराबर हो गया है। स्वयं मनु अपने सिद्धान्त, जो ऊपर के श्लोक में निरूपित हैं, कायम न रख सके और अपनी स्मृति में उनका यह दूसरा रूप रख दिया कि नारी को अपने जीवन के किसी काल में स्वतन्त्र न रहना चाहिए और कि पति का अधिकार पत्नी पर सब प्रकार का है (प्रभुता सर्वतोमुखी) मनु कहते हैं—

"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

—कुमारी अवस्था में उसकी रक्षा पिता करता है, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में उसका पुत्र। उसका कभी स्वतन्त्र रहना उचित नहीं है। एक स्थल पर तो मनु और भी कठोर हो जाते हैं। जब वे नारी को पुरुषों को दूषण की ओर ले जाने वाली कहते हैं—

"स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।"

इसी प्रकार मनु ने उसे 'अस्थिर चित्त वाली' कहकर कचहरी में गवाही करने का भी अधिकार नहीं दिया है। मनु ने नारी के विवाह की अवस्था ८ या १२ वर्ष की ही निर्धारित की है। पति-पत्नी को त्याग सकता था, यदि वह बाँझ हो या उसने केवल लड़कियाँ ही उत्पन्न की हों या वह व्यभिचारिणी हो। प्राचीन काल में नियोग की प्रथा प्रचलित थी, जिसके अनुसार पुत्र के लिये पत्नी अपने पति को छोड़ कर दूसरे के

पास जा सकती थी और उससे उत्पन्न हुआ बच्चा औरस या जायज़ माना जाता था। उसी प्रथा के अनुसार धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर महाभारत-काल में दूसरे पिता से उत्पन्न होकर भी अपनी माता के पति के पुत्र कहलाए। मनु ने विधवा विवाह के साथ-साथ नियोग-प्रथा भी वर्जित कर दी। नारद ने अपनी स्मृति में दोनों की अनुमति दी है। मनु स्त्री-धन के अतिरिक्त और किसी सम्पत्ति की अधिकारिणी विधवा को नहीं बनाते; हाँ, माँ को अपने सन्तानहीन पुत्र की सम्पत्ति का अधिकार देते हैं। नारद विधवा-विवाह की स्वीकृति तो देते हैं, पर उसका पति की सम्पत्ति में अधिकार नहीं मानते। याज्ञवल्क्य ने उसे मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी बनाया है। नारी को यज्ञ आदि में शामिल होने का अधिकार भी अब नहीं था। पर्दे का फिर भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता और मनु कहते हैं कि कोई स्त्री बलपूर्वक नहीं रोकी जा सकती। बाल-विवाह की अनुमति जो स्मृतियों ने, विशेष कर मनु-स्मृति ने दे दी है, उसका एक विशेष कारण था। मनुस्मृति की रचना सम्भवत: शुंग-काल या ई० पू० दूसरी सदी के लगभग हुई। उस समय उत्तर-भारत की स्थिति बड़ी दयनीय थी, और उस पर मौर्य-साम्राज्य के पिछले राजाओं की कमज़ोरी के कारण विदेशियों के भयानक हमले होने लगे थे। ग्रीकों ने समूचे पंजाब और सिन्ध पर अधिकार कर लिया था और एक बार तो उनका अधिकार मध्य देश के हृदय और मगध की राजधानी पाटलिपुत्र तक पर हो गया था। उसी काल पाणिनि के व्याकरण पर 'महाभाष्य' लिखने वाले महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि किस प्रकार यवनों अर्थात् ग्रीकों ने साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (चित्तौड़ के पास की नगरी) को घेर लिया था। प्रान्त साम्राज्य से टूट कर बिखर गये थे, राजा नष्ट हो गये थे और आचार की व्यवस्था बिगड़ गई थी। इस दशा का वर्णन गार्गी-संहिता के युग-पुराण ने किया। उसका कहना है कि दुष्ट, विक्रान्त यवनों के आक्रमण से राजा नष्ट हो गये और प्रान्त बिखर गये, शूद्र ब्राह्मण का आचरण करने लगे और

ब्राह्मण शूद्र का। उन्हीं दिनों एक महान् ब्राह्मण षड्यन्त्र हुआ, जिसमें शायद महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतंजलि का भी हाथ था। उसका संचालक मौर्य-कुल के अन्तिम सम्राट् बृहद्रथ का पुरोहित और सेनापति पुष्यमित्र शुंग था। शुंग ने बृहद्रथ को सेना का निरीक्षण करते समय खुले आम मार कर मगध की गद्दी छीन ली और वहाँ नये ब्राह्मण-साम्राज्य का आरम्भ किया। बहुत काल पहले से ब्राह्मण-क्षत्रियों में शक्ति के लिये संघर्ष चला आता था। पहले वह संघर्ष वसिष्ठ और विश्वामित्र में चला, फिर परशुराम और क्षत्रियों में, फिर राजा जनमेजय और उनके पुरोहित तुरकावषेय और दूसरे ब्राह्मणों में और अब यह उसी संघर्ष की चौथी बड़ी आवृत्ति थी, जिसमें ब्राह्मण विजयी हुआ। पुष्यमित्र ने एक ओर तो उन जैन-बौद्ध मौर्य राजाओं का अन्त किया, जो विदेशी ग्रीकों के प्रति हथियार डाल आत्मसमर्पण कर बैठे थे। दूसरी ओर उसने ग्रीकों को देश से बाहर कर उसकी रक्षा की। ब्राह्मण-धर्म लौटा, ब्राह्मण भाषा संस्कृत लौटी। ब्राह्मण यज्ञ और पशु-बलि लौटे, ब्राह्मण सब प्रकार से महान् हुआ। उन्हीं दिनों मनुस्मृति लिखी गई, जिसने आचार-विचार के नियम बड़े कठोर कर दिये, शूद्र और नारी के अधिकार कुचल दिये और बाल-विवाह प्रचलित किये। शायद लोगों का यह विश्वास था कि उस भयानक ज़माने में जब 'युग-पुराण' के अनुसार आये दिन हमले हो रहे थे, पिता अपने अनेक लड़के और लड़कियों के भार उठा कर लड़कियों की इतनी रक्षा नहीं कर सकता था, जितनी पति अपनी एक पत्नी की। इससे बालिका की रक्षा के लिये उसका जल्द विवाह कर देना उचित समझा गया। जान पड़ता है, इसी कारण 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' का सिद्धान्त प्रचलित कर आठ वर्ष की अवस्था में लड़की का विवाह सब से सुन्दर माना गया।

राष्ट्र

मनुस्मृति और दूसरी स्मृतियाँ राजा की सत्ता को राष्ट्र में प्रधान मानती हैं। मनु के लिये राजा का राज्य में न होना अराजकता पैदा

करता है, जिससे मज़बूत, कमज़ोर का नाश करने लगते हैं। राजा को राज का अधिकार ईश्वर का दिया हुआ माना जाने लगा था, और राजा पृथ्वी पर देवता का प्रतिनिधि समझा जाने लगा। मनु कहते हैं कि राजा बालक होने पर भी मनुष्य न समझा जाना चाहिये; वह तो वास्तव में महान् देवता है, जो मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर जन्म लेता है। अपने प्रभाव के कारण वह कभी अग्नि, कभी वायु, कभी सूर्य, कभी सोम, कभी धर्मराज, कभी कुबेर, कभी वरुण और कभी इन्द्र के समान होता है। इन्हीं लोकपालों के अंश से उसकी काया सिरजी जाती थी। स्मृतियों का कहना था कि उसका देवसिद्ध अधिकार होने पर भी राजा कभी स्वेच्छाचारी न हो सकता था और न वह प्रजा को स्वार्थ-वश हानि ही पहुँचा सकता था। दण्ड का उपयोग वह धर्म के आचरण के लिये करता था। क़ानून का वह बनाने वाला न था, केवल उसको बरतने वाला था। क़ानून के महत्व के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा गया है कि आलसी, कामी, क्रूर और अधार्मिक राजा को वह नष्ट कर देता है। मनु व्यवहार (क़ानून) का उद्गम राजा को न मान कर वेदों, स्मृतियों, सत्पुरुषों के आचार और आत्मतुष्टि को मानते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधुनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

आत्मतुष्टि से यहाँ तात्पर्य मुकदमे में प्रमाणों के रहते राजा के विश्वास से है। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में कानून या व्यवहार के उद्-गम कुछ और भी माने हैं, जैसे, मन्त्रणा, परिषद् और विद्वानों के मत, राजशासन, कर्त्तव्यानुकूल आवश्यकताएँ, संघो-पूगों आदि के नियम और स्थान-स्थान के रीति-रिवाज। मनु भी देश-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, सम्प्रादाय-धर्म और गण तथा शिल्पि-संघों के नियमों को कानून स्थिर करने का अधिकार देते हैं।

धर्म-शास्त्र, क्षत्रिय से भिन्न वर्ण के राजा नहीं मानते। परन्तु मनु

ने आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मणों को भी अस्त्र धारण करने का अधिकार दिया है—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपसाध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ।।

इस अधिकार का, मनुस्मृति रचने वाले ब्राह्मणों के नेता स्वयं पुष्यमित्र शुंग ने उपयोग किया । उसने शस्त्र समुचित रीति से ग्रहण किया और प्राय: अपने जीवन भर शस्त्रों की छाया में वह विचरता रहा । उसके अतिरिक्त भी इतिहास में क्षत्रिय से भिन्न दूसरे वर्णों के राजाओं की कमी नहीं रही । मगध की ही गद्दी पर पहले ब्राह्मण राजा शुंग हुये, फिर कण्व और उनके वाद वे आन्ध्र-सातवाहन, जिनका साम्राज्य दक्षिण में फैला हुआ था । इसी प्रकार पिछले काल में भी दक्षिण के अनेक राजा ब्राह्मण हुए और मुसलमानों की पहली चोट सीने पर लेने वाला अरबों का शत्रु, सिन्ध का राजा दाहर भी ब्राह्मण ही था । फिर शुंगों और मौर्यों से पहले और भारत में पहला ऐतिहासिक साम्राज्य स्थापित करने वाला वह नन्दराज तो न केवल क्षत्रिय नहीं था वल्कि शूद्र था । उसने क्षत्रियों का संहार कर 'सर्वक्षत्रान्तक' विरुद भी धारण किया था । चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसका नाश किया था । पर यह सही है कि राजा चाहे कोई हो, अधिकतर कानून के मामले में बँधा वह धर्म-शास्त्रों के नियमों से ही रहता था । प्रजा का हित साधने वाले राजा का जीवन कष्ट का था । अपना राज-काज वह सात-आठ मन्त्रियों की सलाह से चलाता था । जो कुछ उसका निश्चय या आदेश किसी विषय में होता था, उसे लिखकर उचित विभागों या उनके अधिकारियों को वह भेज देता था । राजप्रासाद के सभा-भवन या संसद में बैठकर वह वादी और प्रतिवादी (मुद्दई-मुद्दालह) के अभियोग सुनता और फैसता सुनाता । जुर्माने, धार्मिक प्रायश्चित्त और अपराधों की गुरुता के अनुसार तथा वर्ण और व्यक्ति के पदानुसार दण्ड का वह विधान करता था । मन्त्रियों के अलावा भी राज के काम में राजा को

उसके अनेक अधिकारी सहायता देते थे, जैसे, 'महामात्र', 'युक्त' आदि। राष्ट्र के अनेक विभाग थे, जिनमें प्रधान चर-विभाग, अर्थ-विभाग, सैन्य-विभाग और दण्ड-विभाग थे। चर-विभाग की दृष्टि सब पर रहती थी अर्थ-विभाग, आय-व्यय के अलावा, कोष और खानों पर भी निगरानी रखता था। खानों की खुदाई पर राज का एकाधिकार रहता था और वह शायद इसी विभाग के अन्तर्गत थीं। सैन्य-विभाग का कार्य प्रजा की बाहरी और भीतरी शत्रुओं से रक्षा करना था। दण्ड-विभाग का कर्त्तव्य अपराधियों को पकड़ कर दण्ड देना था। न्याय-विभाग भी उसी से सम्पर्क रखता था और जन-जन में शास्त्र के अनुकूल काम बांटना उसका काम था।

मनुस्मृति ने शासन के सम्बन्ध में विस्तृत ब्यौरा दिया है। राष्ट्र अनेक देशों या जनपदों, विषयों, नगरों और ग्रामों में बँटा था। नगर ऐसे शासक के हाथ में दिया जाता था, जो नागरिकों में भय, श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न कर सके। उसे पुर या नगर के सारे अधिकार सौंप दिये जाते थे। वह सबके लाभ की चिन्ता करता था। ग्राम का शासक 'ग्रामिक' कहलाता था, जिसकी आहार, ईंधन आदि सारी आवश्यकताएँ गाँव के रहने वाले पूरी करते थे। ग्रामिक के ऊपर दस ग्रामों का शासक होता था जिसे 'दशी' कहते थे। उसे अपनी वृत्ति के लिये दस जोड़े बैलों से जोती जाने लायक ज़मीन दी जाती थी। बीस गाँवों के शासक 'विंशी' कहलाते थे और 'दशी' से पाँच गुनी भूमि पाते थे। सौ गाँवों के शासक 'शतेश' या 'शताध्यक्ष' कहलाते थे और उन्हें एक समूचा गाँव अपने खर्च के लिये मिलता था। हज़ार गाँवों के शासक 'सहस्रपति' को एक पूरे नगर की आय अपनी वृत्ति के लिये मिलती थी।

न्याय और दण्ड

धर्म-शास्त्रों की तालिका के अनुसार मुकदमेबाज़ी के १८ कारण हैं—ऋण, अनधिकारी द्वारा क्रय-विक्रय, सीमा-निश्चय, कुल से पृथक् होने के समय सम्पत्ति का विभाजन, श्रम-शुल्क न देना, साझा, व्यभिचार,

आघात, निन्दा, चोरी, डाका आदि। इस प्रकार दीवानी और फौजदारी दोनों ही प्रकार के झगड़े थे। इनमें दीवानी वाले झगड़े तो अक्सर मध्यस्थ और पंचायत के बीच ही सुलह कर लिये जाते थे। चोरी के अपराधियों को अपनी निर्दोषता शपथ द्वारा, या अग्नि आदि पर चलकर, या कभी दोनों तरीकों से सिद्ध करनी पड़ती थी। मनु ने इस सम्बन्ध में केवल अग्नि और जल का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य और नारद इन दोनों के अतिरिक्त तीन और तरीकों का उल्लेख करते हैं—तुला, हल के फाल और विष का। बृहस्पति ने अपनी स्मृति में इस प्रकार के नौ तरीकों का वर्णन किया है। दण्ड साधारणतः कठोर थे। गाय हाँक ले जाने वाले की नाक काट ली जाती थी और दस 'कुम्भ' से अधिक अन्न या चाँदी या सोना चुराने वाले को प्राण-दण्ड मिलता था। प्राण-दंड की सज़ा किसी प्रकार के विद्रोह या राजद्रोह की भी थी। परन्तु यदि उस अपराध का अपराधी ब्राह्मण हुआ तो वह केवल राज्य से बहिष्कृत कर दिया जाता था और पैतृक सम्पत्ति में अपना अधिकार खो बैठता था। मनु के अनुसार किसी पाप या दोष के अधिकारी ब्राह्मण को प्राण-दण्ड नहीं दिया जा सकता था, उसे केवल देश-निकाला ही हो सकता था। परन्तु एक बात महत्त्व की यह है कि समान अपराध के लिए मनु ने जहाँ साधारण नागरिक को एक कार्षापण का दण्ड-विधान किया है, वहीं राजा के लिए १००० कार्षापणों का। तात्पर्य यह है कि जो जितना ही ज्ञान, प्रतिष्ठा या प्रभाव का व्यक्ति हो, उसे अपराध की सज़ा उतनी ही कठोर झेलनी चाहिए, परन्तु ब्राह्मण इसमें अपवाद था।

दीवानी कानून के मामलों में स्मृतियों ने व्यापार में साझा और व्यापार सम्बन्धी ठेकों पर विचार किया है। यह समाज की बदलती हुई स्थिति का सबूत है क्योंकि इनका उल्लेख सूत्रों और प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। मनु ने केवल एक प्रकार के धार्मिक साझे की बात कही है। जैसे, एक ही यज्ञ में भाग लेने वाले ऋत्विजों की दक्षिणा के हिस्से आदि में। परन्तु याज्ञवल्क्य व्यापार और कृषि आदि में भी हिस्सेदारी

की बात लिखते हैं। इसी प्रकार नारद और बृहस्पति भी अपनी स्मृतियों में उन हिस्सों का वर्णन और उनका निर्णय करते हैं। धर्म-शास्त्रों से ज्ञात होता है कि ऋण दिए जाते थे और उन पर ऋणी के वर्ण के अनुसार १५ से ६० प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता था। फिर भी ब्याज अधिक लेना बुरा माना जाता था। ब्राह्मण के लिये तो अधिक ब्याज लेना अत्यन्त निन्द्य था। नारद ने तो ब्राह्मण का यह महाजनी व्यापार बिल्कुल ही वर्जित कर दिया है। ऋण लौटाया न जा सकने पर शूद्र को उसके बदले महाजन का काम करना पड़ता था। ऋण का धन लौटाने के लिये ऋणी के घर पर महाजन के अनशन करने का हवाला भी मिलता है।

कर-ग्रहण

धर्म-शास्त्रों का कहना है कि कर थोड़ा और सब पर बराबर होना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह प्रजा पर कर का भारी बोझ न डाले, और न उसको उगाहने के लिये उस पर अत्याचार ही करे। इस सम्बन्ध में प्राय: उसी काल के लिखे महाभारत का उल्लेख है कि राजा को फूल से मधु लेने वाली मक्खी अथवा दूध पीने वाले गाय के बछड़े-सा आचरण करना चाहिए। मनु के अनुसार राजा को सौदागरों से सोने, और पशु-व्यापार के लाभ का आधा और धान आदि खेत की उपज पर छठा, आठवाँ या बारहवाँ हिस्सा लेना चाहिए। इसी प्रकार कन्द-मूल, फल, औषधि, गन्ध-द्रव्य, मधु, घी आदि पर भी लाभ का छठा भाग लेना और शिल्पियों तथा श्रमिकों से महीने में एक दिन काम कराना उचित है। श्रोत्रियों से कर लेना वर्जित था। इसी प्रकार अन्धे, बहरे, लँगड़े, वृद्ध और श्रोत्रियों की सहायता करने वालों से भी कर लेना वर्जित था। आय और कर के दूसरे साधन चुंगी, घाटों के खेवे आदि थे।

पेशे और व्यापार

स्मृतियों में पेशों और व्यापार के फलस्वरूप जनता की आर्थिक

स्थिति का भी उल्लेख मिलता है। नीचे लिखे पेशेवर तब के समाज को अपने पेशों का लाभ पहुँचाते थे—लुहार, सुनार, तेली, रंगसाज, दर्जी, धोबी, कुम्हार, जुलाहे, चमार, कलाल, धनुष-बाण बनाने वाले, लकड़ी और धातुओं के शिल्पी आदि। पहले की ही भाँति साधारण जनता का आम पेशा कृषि था। व्यापार की भी अनेक राहें खुल गई थीं और उसकी उन्नति सब प्रकार से हो रही थी। व्यापार में या तो चीज़ें एक-दूसरे से बदल ली जाती थीं या क्रय-विक्रय सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों के ज़रिये होता था। सोने और चाँदी के सिक्कों के नाम रोप्य, मासक, धाणि और शतमान थे। ताँबे के सिक्के कार्षापण कहलाते थे। राज्य की ओर से वस्तुओं का मूल्य निर्धारित कर दिया जाता था। जो सौदागर मिलावट या तोल में कमी का दोषी ठहरता था, उसे दण्ड दिया जाता था। अकाल के समय अन्न को या राज्य के एकाधिकार वाली चीज़ों को देश से बाहर भेजना वर्जित था। उस काल दूर-दूर जाने वाले लम्बे-चौड़े वणिक-पथ भी थे। व्यापार की वस्तुएँ नदियों पर नाव और स्थल पर बैल-गाड़ी वा जानवरों पर लाद कर देश में सर्वत्र बिकने जाती थीं।

छठा अध्याय

इतिहास-काल

इतिहास-पुराण बहुत प्राचीन काल से इस देश के रहने वालों का मार्ग-प्रदर्शन अपने दृष्टान्तों से करते आए हैं। बार-बार उनके राजाओं और ऋषियों के आचरण का आदर्श के रूप में साहित्य में हवाला दिया गया है। संस्कृत के काव्यों और नाटकों को सदा रामायण-महाभारत और पुराणों ने नायक और नायिकाएँ दी हैं। इतिहास और पुराणों में जाने हुए रामायण, महाभारत और १८ पुराण हैं।

इतिहास-पुराण का उल्लेख वैदिक-साहित्य में भी मिलता है। अथर्ववेद उनका स्पष्ट उल्लेख करता है। पुराणों की संख्या परम्परया १८ मानी जाती है। उनमें पाँच प्रकार के विषयों का वर्णन होता है सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। सर्ग आदि सृष्टि को कहते हैं और प्रतिसर्ग उस सृष्टि को जो प्रलय के बाद होती है, जो एक प्रलय से दूसरे प्रलय के बीच रहती है। वंशों में देवताओं और ऋषियों के वंशों का वर्णन है और मन्वन्तरों में कल्प के महायुगों का जिनमें से प्रत्येक में मनुष्य का पिता एक मनु होता है। इसी प्रकार वंशानुचरित पुराणों के वे अंग हैं, जिनमें राज-वंशों की तालिकाएँ दी हुई हैं और राजनीतिक घटनाओं और कथाओं के वर्णन हैं। इनमें से अन्तिम प्रकरण इतिहास के लिये बड़े महत्व के हैं, इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से विशेष महत्त्व के पुराण मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड, भागवत् और भविष्य हैं। यह सही है कि इतिहास की दृष्टि से सामग्री, कम से कम, शुद्ध रूप में उनमें बहुत कम है और तिथि-क्रम तो बिल्कुल ही उलझा हुआ

है। कहीं तो वंशानुचरितों में समकालीन राजाओं का वर्णन सिलसिले से हुआ है और कहीं वे बिल्कुल छोड़ ही दिये गये हैं। उनकी महत्वपूर्ण विदेशी विजयों का भी पुराणों में हवाला नहीं मिलता। केवल एक पुराण में—युग-पुराण जो गार्गी संहिता का एक भाग है—हिन्दू-ग्रीक राजा धर्ममीत (दिमित, दिमित्रियस्) की मगध-विजय का वर्णन है। उसी में शक अम्लाट के भयानक हमले का भी ज़िक्र मिलता है। इस प्रकार पुराणों का महत्व काफ़ी है, यद्यपि आज जो पुराण मिलते हैं, उनको ई० पाँचवीं सदी में गुप्तों के राजकाल में लिखा गया था। उन्हीं पुराणों के देवी-देवता इस देश में आज पूजे जा रहे हैं और उन्हीं की संस्कृति अधिकतर हिन्दू-जीवन में विकसित हुई है। ये पुराण तो निश्चय बहुत पीछे लिखे गये परन्तु उनका एक मूल रूप स्थिर भी था जिसका संपादन वेदों के प्रधान सम्पादक और महाभारतके लिखने वाले व्यासने किया था। व्यास को महाभारत-काल में हुआ मानते हैं, जिससे यदि उनका सम्बन्ध पुराणों से है, तो निश्चय वह सम्बन्ध उस मूल पुराण से ही रहा होगा। इन पुराणों के अनेक व्यक्ति और राजाओं की अनेक पीढ़ियाँ वैदिक साहित्य और ऋग्वेद तक में मिल जाती हैं, जिससे एक बात तो यह प्रकट होती है कि उनमें गिनाए व्यक्तियों के नाम निरी कपोल-कल्पना नहीं है, दूसरी यह कि वह मूल-पुराण शायद महाभारत से पहले ही प्रस्तुत हो गया होगा। पुराण इतिहास की भांति के ही साहित्य माने गये हैं, उतने ही पुराने भी हैं क्योंकि 'इतिहास-पुराण' के रूप में उनका उल्लेख अथर्ववेद में भी हुआ है। शायद अथर्ववेद का उल्लेख उसी आदि-पुराण की ओर संकेत करता है, जो तब अलिखित दशा में प्रचलित था।

ब्राह्मण-ग्रंथों में भी 'आख्यानों,' 'गाथाओं' और 'नाराशंसियों' का उल्लेख है। ये गाथाएँ गायकों द्वारा उपयुक्त अवसरों पर गा जाती थीं। इन्हें देवताओं का विशेष प्रिय मानते थे। बाद में यही आख्यान, गाथाएँ आदि विकसित होकर ऐतिहासिक काव्यों के रूप में प्रकट हुईं। स्वयं ये काव्य भी बहुत प्राचीन काल के हैं। इस प्रकार के दो महाकाव्य इस

समय रामायण और महाभारत के नाम से मिलते हैं। हमें आज पता नहीं कि ऐसे और कितने महाकाव्य लिखे गये जो काल के गाल में समा गये। जिन महाकाव्यों का पता है, उनमें से एक तो रामायण है, जो महर्षि वाल्मीकि का बनाया कहा जाता है और जिसमें अयोध्या के सूर्यवंशी राजा दशरथ के बेटे राम के चरित्र का वर्णन है। पर साथ ही उस घटना के अतिरिक्त इसमें कुछ अन्य कथाएँ भी सुरक्षित हैं। दूसरा महाभारत बहुत बड़ा ग्रंथ है, जिसमें कौरव-पाण्डवों की प्रसिद्ध लड़ाई के अलावा सैकड़ों दूसरी कथाएँ भी दी हुई हैं, जो कभी उस लड़ाई से भी पहले घटी थीं। इन्हीं कथाओं में नल-दमयन्ती, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि की कथाएँ भी हैं।

रामायण

रामायण, जो आज वाल्मीकि का बनाया हुआ मिलता है, उससे पहले भी राम की कथा काव्यबद्ध लिखी गई थी। महर्षि पतंजलि ने अपने महाभारत में उससे कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। सम्भवतः वह रामायण च्यवन ऋषि ने लिखा था। परन्तु प्रसिद्ध वह रामायण हुआ, जिसे उसी कुल के वाल्मीकि ने बाद में लिखा। वह इतना सुन्दर और प्रसिद्ध हुआ कि च्यवन वाली कथा उससे दब गई और वाल्मीकि को 'आदि कवि' भी कहा जाने लगा, जिससे उनका रामायण भी आदि-काव्य कहलाता है। वह रामायण २४००० श्लोकों में लिखा है। उसकी कथा इतनी जानी हुई है कि उसको यहाँ लिखने की ज़रूरत नहीं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि समूचा रामायण एक ही व्यक्ति का लिखा नहीं है। वे मानते हैं कि पहला और सातवाँ काण्ड छोटे-छोटे अनेक दूसरे स्थलों के अतिरिक्त बाद में जोड़े गए। इसका कारण यह है कि इन काण्डों का दूसरे काण्डों से इसलिये मेल नहीं बैठता कि जहाँ इनमें राम को विष्णु का अवतार माना गया है दूसरों में उनका चरित्र मनुष्य की तरह है। जो भी हो, ई० पू० दूसरी सदी तक रामायण अपने आज के समूचे रूप में तैयार हो चुका था। इससे उसका

रचना काल ई० पू० ५०० और ई० पू० २०० के बीच मानना चाहिये।

रामायण की ऐतिहासिकता

रामायण में लिखी कथा कहाँ तक सत्य है इसके सम्बन्ध में सन्देह किया गया है। उसके पात्रों के विषय में कुछ सही-सही लिखना अत्यन्त कठिन है। कुछ लोगों ने तो रामायण की कथा को केवल कपोल-कल्पना माना है। उनकी राय में रामायण दक्षिण भारत की विजय की रूपकात्मक कहानी है। रावण और राम का युद्ध ऋग्वेद के वृत्र और इन्द्र का युद्ध है। राम इन्द्र हैं और सीता खेत की हराई जहाँ से उनकी उत्पत्ति होती है, आदि। परन्तु यह स्वीकार करना कठिन है। पुराणों और ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जो हमें राजाओं के वंश-वृक्ष और दूसरे संकेत मिलते हैं उनमें राम की स्थिति पीढ़ियों में पुत्र और पिता की है। संस्कृत साहित्य और सारी भारतीय परम्परा में जो राम की कथा और उनके आदर्श राज्य का उल्लेख मिलता है, उससे उस महापुरुष की ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। अवतार और देवत्व हटा देने के बाद भी राम का मानव रूप बना रहता है, जिससे उनका इक्ष्वाकुवंशी राजा होना और कोशल की राजधानी अयोध्या में राज करना कुछ अजब नहीं है।

रामायण की कथा का एक दूसरा रूप दशरथ-जातक में मिलता है। जातक बुद्ध के पुराने जन्मों की कहानी उपस्थित करते हैं। उन्हीं में से एक का नाम दशरथ-जातक है। उसमें राम की कथा दूसरे प्रकार से दी हुई है। उसमें लिखा है कि राम सीता और लक्ष्मण, कौशल्या की कोख से जन्मे सगे भाई-बहन थे। कैकेयी के अनुरोध से राजा की आज्ञा मान तीनों बन चले गये। वहाँ से लौटने के बाद राम ने सीता को ब्याहा। जातक की कहानियाँ बुद्ध की कही हुई मानी जाती हैं, यद्यपि वे लिखी बाद में गई थीं। अगर यह कहानी भी बुद्ध ने कही हो, तब छठी सदी ई० पू० के आस-पास इसे प्रचलित होना चाहिये और तब वह पहली

बार शायद वाल्मीकि रामायण के पहले बनी या कही गई होगी। परन्तु यह कथा राम की कथा का एक और रूप हमारे सामने रखने के सिवा यह निश्चय नहीं कर पाती कि कौन सी कथा सही है। वैसे प्राचीन काल में राजाओं या ऋषियों में सगी और चचेरी बहिनों के साथ विवाह हुआ करते थे।

महाभारत

महाभारत काव्य साहित्य में शायद संसार का सबसे बड़ा ग्रंथ है। उसमें करीब एक लाख श्लोक हैं जिससे उसका दूसरा नाम 'शतसाहस्री-संहिता' है। यह ग्रंथ १८ पर्वों में बँटा है और हरिवंश पुराण भी इसी का एक भाग है। महाभारत में बहुत प्राचीन काल की, उसकी केन्द्रिय घटना से बहुत पहले की, कथाएँ सुरक्षित हैं। भगवद्गीता की तरह के समूचे महान् ग्रंथ तक उसमें जोड़ दिये गये हैं। महाभारत के रचयिता कृष्ण द्वैपायन व्यास कहे जाते हैं। परन्तु इस ग्रंथ की भिन्न-भिन्न शैलियों, भाषा और विविध प्रसंगों से प्रकट होता है कि वह संहिता वास्तव में संग्रह है, जो केवल एक व्यक्ति या समय की रचना नहीं हो सकती। शुरू में युद्ध मात्र की घटना पर शायद पहले वह काव्य लिखा गया जो बाद में अनेक कथाओं के योग से इतना बड़ा बन गया। भारतीय परम्परा के अनुसार उसमें कभी केवल २४००० श्लोक थे। तब महाभारत का नाम 'जय' था। 'जय' के बाद उसका नाम 'भारत' पड़ा और अन्त में महाभारत। यह तीनों नाम उस संहिता के समय-समय पर बढ़ते जाने वाले रूप की ओर संकेत करते हैं। आश्वलायन-गृह्य-सूत्र में महाभारत का उल्लेख मिलता है, जिससे जान पड़ता है कि उसका 'जय अथवा भारत' कोई न कोई रूप तब तक बन चुका था। उस गृह्य-सूत्र का रचना-काल ४०० ई० पू० के लगभग है। परन्तु महाभारत का जो रूप आज हम पाते हैं, वह कब प्रस्तुत हुआ, यह कहना कठिन है, यद्यपि यह निश्चय है कि पाँच सौ ई० के लगभग वह भी खड़ा हो चुका था। क्योंकि गुप्तकाल के भूदान सम्बन्धी एक लेख में उसे 'शतसाहस्री-

संहिता' कहा गया है। इससे महाभारत का रचना-काल ई० पू० ५०० और ६०० ई० के बीच मानना उचित होगा।

महाभारत की घटना के सत्य होने में सन्देह नहीं होना चाहिये। यह सही है कि उस युद्ध का कारण घरेलू था—कौरवों और पाण्डवों में राज्य के लिए लड़ाई, पर उसमें दूर-दूर के राजाओं ने भाग लिया था। कुरुओं की शक्ति और उनका गौरव वेदों के समय ही प्रतिष्ठित हो चुका था। पाण्डवों ने अपने यज्ञों से बड़ा नाम-यश कमाया था। उस युग के सबसे महान् व्यक्ति वासुदेव कृष्ण युद्ध में एक पक्ष के सहायक थे। इससे भी युद्ध का प्रभावशाली होना स्वाभाविक था। परीक्षित, जनमेजय और अन्य पाण्डवों के नाम अथर्ववेद और ब्राह्मण-ग्रंथों में मिलते हैं। इसी प्रकार कौरव-पांडवों के पितामह देवव्रत भीष्म के पिता राजा शान्तनु और ताऊ देवापि का उल्लेख भी ऋग्वेद तक में हुआ है। इसलिए उनकी ऐतिहासिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। आख़िर मनुष्य की पिता-पुत्र वाली कड़ियाँ तो कहीं टूटी नहीं और राजाओं का निरन्तर पिता-पुत्र की पीढ़ियों के रूप में राज करते आना जब स्वाभाविक माना जाता है, तब पुराणों के वंश-वृक्ष या राज-तालिकाओं को, जिनकी अनेक पीढ़ियों का प्रायः उसी तरतीब में उल्लेख उपनिषदों और वेदों तक में हुआ है, मान लेने में आपत्ति क्यों होनी चाहिये?

रामायण और महाभारत की घटनाएँ कब हुईं, यह बताना कठिन है। यह भी कहा जाता है कि पहले महाभारत लिखा गया पीछे रामायण। इसका कारण यह है कि जहाँ रामायण व्याकरण की प्रचलित पद्धति अधिकाधिक स्वीकार करता है, महाभारत की शैली वह प्रतिबन्ध इतना नहीं मानती। ग्रंथ चाहे जो भी पहले लिखा गया हो, इसमें सन्देह नहीं कि घटना रामायण की ही पहले घटी। सारी भारतीय परम्परा और साहित्य इसे स्वीकार करते हैं। पर वे कब घटी यह कहना कठिन है, यद्यपि उस ओर भी कुछ न कुछ संकेत किया जा

सकता है। साधारण तौर पर हम यह जानते हैं कि बुद्ध और महावीर ई० पू० की छठी सदी में हुए थे। महावीर से करीब ढाई सौ वर्ष पहले काशी के राजा अश्वसेन के बेटे और जैन-धर्म के पहले ऐतिहासिक महापुरुष पार्श्व का होना माना जाता है। अगर वे ढाई सौ वर्ष पू० न होकर डेढ़ सौ वर्ष पूर्व भी हुए तो वह काल ८ वीं सदी ई० पू० तक पहुँच जाता है। अगर इस समय से १००-१५० वर्ष भी पहले उपनिषदों के जनक विदेह का होना मानें तो हम दसवीं सदी ई० पू० तक पहुँच जाते हैं। और हमें मालूम है कि वह जनक महाभारत के बाद, उस निचक्षु के भी बाद, हुए थे जिसने हस्तिनापुर से उठकर अपनी राजधानी कौशाम्बी बनाई थी। इस प्रकार महाभारत की घटना का काल कम से कम ईसा से प्रायः हज़ार वर्ष पहले हट जाता है। रामायण की घटना राजवंशों की पीढ़ियों के हिसाब से महाभारत की घटना से तीन सौ से पाँच सौ वर्ष पहले होनी चाहिए। और यद्यपि हम ठीक-ठीक तिथि इन महान् घटनाओं की नहीं निर्धारित कर सकते, इतना प्रायः निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि महाभारत की घटना ई० पू० १००० से पहले घटी और रामायण की घटना ई० पू० १३०० से पहले।

इतिहास-काल की संस्कृति

रामायण और महाभारत में जो सामग्री है, उसके अनुसार संस्कृति का एक नया रूप खड़ा किया जा सकता है। यद्यपि उस संस्कृति को काल की सदियों में पूरा-पूरा नहीं बाँधा जा सकता क्योंकि उन में आई हुई घटनाओं और कहानियों के समय भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी ई० पू० ४०० और ५०० ई० के बीच इन ग्रंथों को लिखने वाले उस प्राचीन संस्कृति को किस प्रकार और किन इकाइयों से समझते थे, इसका पता तो रामायण-महाभारत की सामग्री से लग ही सकता है। उसी सामग्री के आधार पर नीचे तत्कालीन संस्कृति का वर्णन किया जाता है।

राजा

राजा स्वेच्छाचारी न था। उसकी स्वेच्छाचारिता पर उसके भाई, मंत्री, और प्रजाके प्रतिनिधि अंकुश का काम करते थे। उस काल की अनेक संस्थाएँ अपने-अपने नियम प्रचारित करती रहती थीं और राजा को उनका न्याय करते समय, उन नियमों को बरतना आवश्यक था। वे संस्थाएँ कुल, जाति, श्रेणी और पूग थीं। जाति से तात्पर्य वर्णों से था, श्रेणी का व्यापारी संघों से और पूग का जनवर्गों से। दुष्ट राजा को सिंहासन से उतार देने और 'पागल कुत्ते' की तरह मार देने का भी उल्लेख हुआ है। राजा का उत्तराधिकारी अन्धा या अपाहिज होने पर राज नहीं पा सकता था। राज्याभिषेक के समय राजा को प्रजा की रक्षा करने की और स्वेच्छाचारी न होने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। उस प्रतिज्ञा को पूरा न कर सकने से उसका अधिकार कानूनन उठ जाता था। शान्ति और युद्ध में राजा प्रजा का नेता होता था। आशा की जाती थी कि वह युद्ध-यात्रा मंत्रियों की राय और पुरोहित का आशीर्वाद लेकर करे। राजा बड़े ऐश्वर्य और शान से रहने लगा था। उसके दरबार में नर्त्तकियाँ और संदिग्ध आचरण वाली स्त्रियाँ रहने लगी थीं। राजा संगीत, जुआ, शिकार, पशु-युद्ध और मल्लयुद्ध में बड़ी दिलचस्पी लेता था। अपने महल के ही एक भाग में वह न्याय, दण्ड-विधान आदि करता था। आशा की जाती थी कि वह बड़े बेटे को राज देकर वृद्धावस्था आने पर वानप्रस्थ लेले। उसकी राजधानी परकोटे से घिरी होती थी, जिस में अनेक विशाल द्वार और बुर्जियाँ होती थीं। परकोटे के भीतर संगीतशाला, प्रमदवन, (आमोद उपवन), राजप्रासाद, सभ्यों और मन्त्रियों के महल और सौदागरों के बाज़ार होते थे। प्रधान सड़क राजमार्ग कहलाती थी जिसपर रात में प्रकाश जलते थे और उनकी धूल जल के छिड़काव से नम कर दी जाती थी।

शासन

राजा मन्त्रि-परिषद् की सहायता से शासन करता था। परिषद् में

ब्राह्मणों के चार, क्षत्रियों के आठ, वैश्यों के इक्कीस, शूद्रों के तीन और सूतों के एक प्रतिनिधि बैठते थे। प्रधान-मन्त्री और दूसरे मंत्री तथा सभासद् विद्वान्, समझदार, ईमानदार और नीति-कुशल नियुक्त होते थे। इनके अतिरिक्त राजा शासन में युवराज, कुल के प्रधान, सामन्तों और ऊँचे पद के राजपुरुषों से सहायता लेता था। राजपुरुषों में प्रधान नीचे लिखे हुए पदाधिकारी थे—पुरोहित, चमूपति (सेनापति), द्वारपाल, प्रदेष्टा (न्यायाधीश), धर्माध्यक्ष, दण्डपाल (पुलिस का अध्यक्ष), न्यायाध्यक्ष, कार्यों का विधायक, कारागार का अधिकारी, दुर्गपाल आदि।

शासन का सबसे निचला भाग ग्राम था। उसका मुखिया 'ग्रामणी' कहलाता था, दस ग्रामों का शासक 'दशग्रामी', बीस ग्रामों का विंशतिप', सौ का 'शतग्रामी' और हज़ार का 'अधिपति'। इन अधिकारियों का कर्त्तव्य लगान लेना, अपराधियों को पकड़ कर दण्ड दिलाना और अपने-अपने शासन के क्षेत्र में शान्ति क़ायम रखना था। इनमें नीचे वाले क्रमशः ऊपर वालों के आधीन होते थे।

सेना चार प्रकार की थी। इससे वह चतुरंगिणी कहलाती थी। उसके चार अंग—गजदल, रथदल, हयदल और पदाति कहलाते थे लड़ाई में धनुष-बाण, भाले-बरछे, तलवार-फरसे आदि अस्त्र-शस्त्र काम में लाए जाते थे। रक्षा के लिए कवच और शिरस्त्राण आदि का उपयोग होता था। युद्ध में मरना गौरव की बात समझी जाती थी। क्षत्रिय यश, स्वर्ग और राजा के लिए लड़ते थे। लड़ाई में मरे हुए व्यक्तियों की विधवाओं को जीविका के लिए एक प्रकार की पेन्शन दी जाती थी। लड़ाई में पकड़े जाने वाले क़ैदी कम से कम साल भर तक जीतने वाले के दास बनकर रहते थे।

गण-राज्य

महाभारत के शान्ति-पर्व में गण-राज्यों का वर्णन मिलता है। गण-राज्य पंचायती राज को कहते थे, जहाँ अकेले राजा की नहीं, प्रजा के

अनेक प्रतिनिधियों की राय मानी जाती थी। गण-राज्यों की शक्ति और समृद्धि उसके प्रतिनिधियों के परस्पर प्रेम, विचारों की गुप्ति और नियम के अनुसार काम करने की क्षमता पर निर्भर करती थी। महाभारत में इस प्रकार के अनेक पंचायती राज्यों का वर्णन मिलता है। अनेक बार कई गण एक साथ मिलकर अपना संघ बना लेते थे। इसी प्रकार के एक अन्धक-वृष्णी नाम के संघ का प्रधान कृष्ण को बताया गया है।

जनता

वर्ण-धर्म भली प्रकार प्रतिष्ठित हो चुका था। ब्राह्मण और राजन्य (क्षत्रिय) समाज के ऊँचे अंग समझे जाते थे और शूद्र निचले। शूद्रों का धर्म सेवा और दासता थी। वे सम्पत्ति के अधिकारी नहीं हो सकते थे। स्त्रियों के अधिकार भी सीमित हो चुके थे। उनकी स्थिति और बिगड़ती जा रही थी। पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह करता था। सती होने की प्रथा ज़ोर पर थी। नारियों में पर्दा शुरू हो गया था। रामायण-महाभारत में स्वयंवर का वर्णन विस्तार से हुआ है परन्तु निश्चय वह पुरानी बात थी।

जनता मिट्टी के दुर्गों के चारों ओर गाँव में रहती और पशु-पालन, खेती आदि करती थी। आपद्-काल में वह दुर्ग के भीतर चली जाती थी। गाँव अपने शासन में स्वतन्त्र थे परन्तु राजा सब से ऊपर होता था, न्याय करता और कर वसूल करता था। कर अन्न के रूप में स्वीकार किया जाता था। सौदागर नगरों में रहते थे और व्यापार के सिलसिले में बाहर से बहुत-सा धन लाकर राजा को उस पर कर देते थे। नागरिक लोग अपने कर और जुर्माने आदि की रकम शायद सिक्कों में देते थे। सौदागरों और शिल्पियों के संघों को बहुत-से अधिकार प्राप्त थे। नगर के शासन में उनका भी हाथ होता था।

लोग आम तौर पर माँस खाते और शराब पीते थे। परन्तु उपनिषदों के आन्दोलन से उनका झुकाव शाकाहार की ओर अधिक होता जा रहा था। छान्दोग्य उपनिषद् में अहिंसा को परम धर्म कहा

गया है। बाद में तो अहिंसा सम्बन्धी जैन और बौद्ध आदि आन्दोलन ही चल पड़े।

धर्म

प्राकृतिक शक्तियों की पूजा अब बन्द हो गई थी। वैदिक देवताओं का स्थान ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने ले लिया था। अनेक नये देवता—सूर्य, गणेश, दुर्गा आदि—अब पूजे जाने लगे थे। धर्म की स्थापना और दुष्टों के दलन के लिये विष्णु का अवतार धारण करना साधारण जन-विश्वास बन गया था। भगवद्‌गीता में उसकी विशेष व्यवस्था हुई है। साथ ही आत्मा का आवागमन, जो उपनिषदों का उपदेश था, सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया। महाकाव्यों से पता चलता है कि आज के हिन्दू विश्वासों की परम्परा की नींव तभी पड़ चली थी। राम और कृष्ण की पूजा का भली प्रकार आरम्भ हो गया था। कृष्ण की पूजा अधिक लोक-प्रिय थी। कृष्ण का चरित मोहमय, प्रेममय और मांसल मानवीय होने के कारण स्वाभाविक ही अधिक आकर्षक था। कृष्ण-पूजा भी राम-पूजा के पहले आरम्भ हुई। भगवद्‌गीता ने अवतारवाद और विशेषकर कृष्ण-पूजा की जड़ मज़बूत कर दी। रामायण-महाभारत का लिखा जाना ही इसे सिद्ध करता है कि राम और कृष्ण का देवत्व स्थापित हो चुका था। इस रूप में कम से कम राम और कृष्ण महान् से महान् ऋषि से भी बढ़ गये।

सातवाँ अध्याय

दर्शन

भारतवर्ष संस्कृति की अपनी अनेक विशेषताओं से प्रसिद्ध हुआ। उसकी उन्हीं विशेषताओं में चिन्तन भी है। चिन्तन कुतूहल का परिणाम है। आदमी जब अपने चारों तरफ देखता है, तब उस चारों तरफ फैली हुई दुनियाँ को वह समझना चाहता है और साथ ही वह अपने को भी समझना चाहता है। जो कुछ भी वह देखता है, उसका स्वरूप क्या वही है, जो दिखाई देता है या उससे भिन्न है ? वह स्वरूप स्थिर भी तो नहीं रह पाता, क्योंकि उसमें नित्य परिवर्तन होते रहते हैं। जो रूप उसका आज है वह कल नहीं है। तो यह बदलता हुआ रूप सही है या बिल्कुल अदृश्य हो जाने वाला रूप सही है। यानी कि दिखने वाली चीज़ों का—दृश्य जगत् का—वास्तविक रूप क्या है ? उनके सम्बन्ध में सत्य क्या है ?—यह सब विचार आदमी के मन में उठते हैं और वह उनका उत्तर चाहता है।

फिर जो दिखाई पड़ता है, उसके दो प्रधान भाग हैं—एक वह जो चर है यानी जिसमें गति है, जो चलता-फिरता है, जन्मता है, बढ़ता है, थकता और मर जाता है, सोचता और गुनता है और जीवधारी कहलाता है। दूसरा वह जो अचर है, जड़ है, जिसमें गति नहीं है, जिसमें जीव नहीं है। इस चेतन और जड़ में क्या अन्तर है ? दोनों का स्वभाव क्या है ? दोनों में परस्पर सम्बन्ध क्या है ? ये विचार उनके सम्बन्ध के वास्तविक सत्य को जानने की इच्छा जगाते हैं और मनुष्य उसे जानने

के उपाय करता है, उनके विषय में सोचता-विचारता है।

जीवन क्या है ? जीव जन्मने के पहले क्या रहता है, कहाँ रहता है, भाव से आता है या अभाव से आता है, फिर अनेकानेक व्याधियों से पीड़ित हो एक दिन उसे कुछ क्या हो जाता है, जिससे शरीर हिल-डुल नहीं पाता, उसके कण-कण बिखर जाते हैं, जिसे मृत्यु कहते हैं ? जन्मने के पहले और मरने के बाद की जानकारी के लिये और जीवन में बराबर लगे रहने वाले दुःखों के ताँते को दूर करने के लिए भी आदमी उपाय खोजता है, यत्न करता है। पर उपाय खोजना और यत्न करना बाद के धर्म हैं। पहले तो यह जानना है कि जिसके जन्म और मरण का भेद पाना है, जिसका दुःख दूर करना है, वह स्वयं क्या वस्तु है।

जो दीखता है वह तो दृश्य है, व्यक्त है, पर जो नहीं दीखता, जो अव्यक्त है, वह भी है क्या ? क्या उसकी भी सत्ता है, अस्तित्व है ? जीवन में और दिखाई पड़ने वाले जगत् में, सभी वस्तुएँ एक प्रकार के नियम के वशीभूत हैं। जीव पैदा होते हैं, बढ़ते हैं, जवान होते हैं, थकते हैं, बूढ़े होते हैं और एक दिन मर जाते हैं। यह नियम सभी जीवों पर बिना अपवाद के लागू होता है। अचेतन या जड़ चीज़ें जहाँ डाल दी जाती हैं, वहीं पड़ी रहती हैं। पानी प्रवाहमान है और घेरे में आ सकता है और जब घेरे में नहीं आता तो बहता है, और सदा ऊपर से नीचे को बहता है। सूरज रोज़ सुबह पूर्व में निकलता है, रोज़ शाम को पश्चिम में डूब जाता है। चाँद अपनी विविध कलाओं के अनुसार छोटा-बड़ा होता है, तारे अपनी-अपनी राह चलते और उगते-डूबते हैं। पृथ्वी भी उसी प्रकार के नियमों की क़ायल है। ये नियम अपने आप होते हैं, अपने आप दूसरों को नियत सीमाओं में रखना ही उनका स्वयं का सत्य है या उनको भी चलाने वाली उनसे भिन्न कोई अव्यक्त सत्ता है ? फिर वह सत्ता स्वयं शुद्ध-बुद्ध है, शक्तिमान् है या उसकी अपनी सीमाएँ हैं, अपने गुण हैं, उसके अहंकार और इच्छाएँ हैं—ये सब प्रश्न भी उसी दिशा

की ओर संकेत करते हैं और इन्हीं का उत्तर, तर्क-युक्त उत्तर, दर्शन कहलाता है। चिन्तन किसी भी प्रकार का हो सकता है पर वही चिन्तन तर्क और युक्ति द्वारा जब एक सिद्धान्त प्रतिष्ठित करता है, तब वह दर्शन कहलाता है। मतलब यह कि जिस चिन्तन में तर्क नहीं, युक्ति नहीं, चिन्तन की सचेत परम्परा नहीं और जिसके अन्त में किसी निष्कर्ष या सिद्धान्त की उपलब्धि नहीं, वह दर्शन नहीं है। दर्शन उस सिद्धान्त को कहते हैं, उस सत्य को कहते हैं, जिसका आदमी अपने तर्क-युक्त चिन्तन द्वारा साक्षात्कार या दर्शन करता है, यानी देखता है। देखना कई प्रकार का होता है, एक तो साधारण इन्द्रियों से जानने को देखना कहते हैं, जैसे आँखों से देखकर, कानों से सुनकर, नाक से सूँघकर, जीभ से चखकर, चमड़े से छूकर; दूसरा बुद्धि से जानकर। पर इन्द्रियों पर भ्रम का पर्दा पड़ सकता है और यह सम्भव है कि इनकी अपनी सीमाओं के कारण वस्तु की सच्ची जानकारी के सम्बन्ध में व्यभिचार हो जाए, ग़लती हो जाए। अतः निर्मल बुद्धि द्वारा चिन्तन और मनन-पूर्वक प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक देखना हो सकता है। और इसी देखने को दर्शन कहते हैं। और जो देखता है, उसे ऋषि कहते हैं। ऋषि दर्शन करता है, धर्म अथवा वस्तुओं की सही जानकारी या सत्य से साक्षात्कार करता है। इसीलिए उसकी परिभाषा ही इसी प्रकार की गई है—'ऋषयः-मन्त्रद्रष्टारः', 'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयः'।

इस प्रकार के तर्कपूर्ण चिन्तन की पद्धति बहुत प्राचीन काल से इस देश में चली आई है। ऋग्वेद के ज़माने में भी ऋषि जब धर्म का साक्षात्कार करते थे, मन्त्र को देखते-बनाते थे, तब अपने चारों ओर की चीज़ों के सम्बन्ध में भी कुतूहलवश प्रश्न करते थे, और जब-तब अपने कुतूहल का उत्तर देने का भी प्रयत्न करते थे। कभी-कभी विना दर्शन की शैली से चले वे केवल सिद्धान्त का भी निरूपण कर देते थे। जैसे 'द्वासुपर्णा'···आदि में—बीज रूप में, उन्होंने प्रकृति, जीव और ब्रह्म का स्वरूप रख दिया है, जो बाद के 'द्वैत' और 'अद्वैत' दर्शन की नींव बना।

उपनिषदों में वही चिन्तन अधिक तर्क के निकट आया और एक समूचे सिलसिले से सत्य को कहने की प्रथा चली। पाँचाल और विदेह की परिषदों में लोगों ने जीव और प्रकृति के चिन्तन पर विवाद किये और उन पर अपने सिद्धान्त रचे। याज्ञवल्क्य, जनक, जैवलि, अजातशत्रु, अश्वपति, आरुणि, श्वेतकेतु सत्यकाम, बालाकि, गार्गी, मैत्रेयी आदि उस चिन्तन के अग्रणी थे। फिर भी हम जिस लाक्षणिक अर्थ में आज 'दर्शन' का प्रयोग करते हैं, उसकी रूपरेखा पूरी-पूरी उपनिषदों में भी न बन पाई। हाँ, उसकी नींव निश्चय भवन का आकार धारण करने लगी। दर्शन का सही स्वरूप उस साहित्य में प्रकट हुआ जो केवलमात्र दर्शन का था और दर्शन के नाम से ही जो विख्यात हुआ। जाने हुए दर्शन प्रधानतः दो प्रकार के हैं—नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन। दर्शनों का यह भेद निश्चय अवैज्ञानिक और भोंडा है क्योंकि कालान्तर में नास्तिक दर्शनों में भी आस्तिक तत्त्वों का विकास हो गया और आस्तिक दर्शनों में अनेक नास्तिक तत्त्व नींव से ही पहले विकसित हुए थे। वास्तवमें हमइनसे अधिक बुद्धिपरक विभाजन—प्राचीन दर्शन,अवैदिक दर्शन और वैदिक या हिन्दू दर्शन में उन्हें अधिक तर्कपूर्ण रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। नास्तिक दर्शन को साधारणतः लोकायत कहते थे क्योंकि उस दर्शन में दृश्य-जगत् या लोक की सत्ता विशेष मानी जाती थी। मैंटेरियल या पदार्थ की सत्ता उसमें मूल था। जो वस्तु प्रत्यक्ष है, जो इन्द्रियों और बुद्धि से जानी जा सकती है, अस्तित्व केवल उसका है। जो सूक्ष्म या स्थूल रूप से जानी नहीं जाती और प्रत्यक्ष प्रमाणों से परे है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। इससे लोकसत्ता मानने वाले लोकायत कहलाए और उनका दर्शन लोकायत दर्शन कहलाया। वह दर्शन भी अवैदिक था क्योंकि उसने वेदों की सत्ता नहीं मानी। उसी अवैदिक परम्परा में बौद्ध और जैन दर्शन हुए। जो वास्तव में उपनिषद्-काल के पिछले छोर पर उपनिषदों की ही परम्परा में, परन्तु ब्रह्म की व्याख्या से हीन आचार में ही जीवन की परिणति मानते हुए बाद में दर्शनों

के रूप में विकसित हुए। तीसरी परम्परा वैदिक या हिन्दू दर्शनों की थी, जैसे सांख्य और योग, न्याय और वैशेषिक, पूर्व और उत्तर मीमांसा या वेदान्त। इनमें से पहले चार वैदिक होते हुए भी आरम्भ में प्रायः नास्तिक ही थे, और सांख्य को तो आज भी दार्शनिक अनीश्वरवादी ही मानते हैं। सांख्य-सूत्र नामक दर्शन के सूत्र कपिल के बनाए हुए कहे जाते हैं, परन्तु निःसंदेह वे बाद के हैं और प्रायः उनके हज़ार वर्ष पहले की ईश्वरकृष्ण की बनाई कारिकाएं, जो प्राचीन और वास्तविक कपिल के सूत्रों पर अवलम्बित हैं, नास्तिक दर्शन के रूप में ही सांख्य-सिद्धान्त को प्रस्तुत करती हैं। जिस प्रकार इन छहों दर्शनों को जोड़ा-जोड़ा करके गिनाया गया है, उसी प्रकार उनके सिद्धान्त भी एक दूसरे के निकट हैं। नीचे संक्षेप में इन दर्शनों को समझने का प्रयत्न करेंगे।

लोकायत दर्शन

लोकायत दर्शन किसने आरम्भ किया, इसका ठीक-ठीक पता तो नहीं चलता पर दो आचार्यों के नाम विशेषकर उस क्षेत्र में लिए जाते हैं—एक बृहस्पति का, दूसरे चार्वाक का। उन दोनों के जीवन की कुछ बातें तो हमें नहीं मालूम हैं, पर परम्परा ने उन्हें नास्तिक माना है और किसी भी प्रकार से शरीर के धर्म की रक्षा करना, उसके पार्थिव सुखों को सभी प्रकार से भोग की सीमाओं में ला रखना ही इष्ट बताया गया है। ऋण लेकर भी घी पीना और जब तक जीना, सुखपूर्वक जीना, उनके दर्शन का निचोड़ माना गया है। कहाँ तक यह दर्शन अपने सच्चे रूप में हमारे पास तक पहुँचा है, नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि जो कुछ सिद्धान्त चार्वाकों के हमारे पास तक पहुँचे हैं, वे अधिकतर उनके दुश्मनों की पुस्तकों में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। बौद्ध-जैनदर्शन, हिन्दू-आस्तिक दर्शन आदि ने बृहस्पति और चार्वाक के सिद्धान्तों का उद्धरण देकर खण्डन किया है। और यह सहज ही समझा जा सकता है कि विरोधी दल वाले लोगों ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों के सिद्धान्त

सदा सच्चाई से या कम से कम उनके दृष्टिकोण से तो उपस्थित किये न होंगे। इससे हमें यह समझ लेना चाहिए कि चार्वाकों का मत अपने शुद्ध रूप में हमारे सामने नहीं है और ऐसा कुछ कहना कि चार्वाक या लोकायत स्वयं तपहीन या साधना-हीन थे, मुनासिब न होगा। यह सही है कि उनका दर्शन उपस्थित पदार्थ को ही सर्वस्व मानता था, किसी ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करता था और वेदों में आस्था न रखता था, जीवन को जीव के इच्छित भोग से सुखमय बनाने का प्रयत्न करता था।

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन भी लोकायत दर्शन की ही भाँति नास्तिक और अवैदिक हैं। दोनों ईश्वर या वेद की सत्ता नहीं मानते। इनमें जैन-धर्म का आरम्भ बौद्ध-धर्म से कुछ पहले हुआ। शायद उपनिषद्-काल में ही, पर बौद्ध-दर्शन विशेष महत्त्व का होने से हम पहले उसी का उल्लेख करेंगे।

ईसा पू० छठी सदी में सारे संसार में दार्शनिक और धार्मिक आन्दोलनों की बाढ़-सी आ गई थी। निर्भीक यहूदी चिन्तक असुर और ख़ल्दी राजाओं को, धनियों और मूर्तिपूजकों को, जेहोवा के एकेश्वर वाद को न मानने वालों को, उस काल ज्वाला भरे शब्दों में इसरायल में धिक्कार रहे थे, ईरान में तभी ज़रतुश्थ का आचार-सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन ज़ोरों पर था, चीन में कन्फ़ूशस और लावोत्से अपने सिद्धान्तों का निरूपण कर रहे थे, तभी भारत में भी अनेक चिन्तक संन्यास लेकर देश में अपने दर्शन का उपदेश कर रहे थे। आकार कालाम, वेलट्ठिपुत्त, वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध भी तभी अपने-अपने दर्शनों के साथ भारत में अवतरित हुए। बुद्ध और महावीर के दर्शन तब अभी वह रूप धारण न कर सके थे, जिसकी व्याख्या हम ऊपर कर आए हैं। उनके आन्दोलन का प्रधान अंग आचरण था, दर्शन यानी तर्कपूर्ण चिन्तन के अन्त में सिद्धान्त का निरूपण नहीं। यानी उनके विचार से

सत्य का देखा हुआ रूप बाद में उनकी पद्धति के विचारकों ने रखा।

बौद्ध-विचारकों की चर्चा करने के पहले बुद्ध के चरित पर एक नजर डाल लेना ज़रूरी होगा। नैपाल की तराई में वह स्थान है, जिसे कभी कपिलवस्तु कहते थे और जो वस्ती ज़िले के उत्तर में आज भी बौद्ध-जनता का प्रमुख तीर्थ है। वहाँ कभी शाक्यों का पंचायती राज था, जिसका प्रधान शुद्धोदन नाम का अभिजात क्षत्रिय था। उसी का बेटा, सिद्धार्थ आगे चलकर बुद्ध के नाम से विख्यात हुआ। बुद्ध उस ज्ञानवान् महात्मा को कहते हैं, जिसने निर्वाण या मोक्ष का मार्ग देख लिया हो। बुद्ध होने से पहले सिद्धार्थ गौतम को उन सारे साधनों का अभ्यास करना पड़ा था, जो तब के सभी साधक करते थे। बालपन से ही उसकी प्रकृति चिन्तनशील थी, हृदय दयालु था और वह किसी का कष्ट बर्दाश्त नहीं कर सकता था। संसार की ऊंच-नीच, दुःख-व्याधियाँ देखकर उसने उनको दूर करने का उपाय ढूँढ़ना शुरू किया। पिता ने उसे ऐश्वर्य में बाँधना चाहा। उसे महल दिया, बाग़-बगीचे दिये, धन-दौलत दी और इन सब से कहीं आकर्षक यशोधरा नाम की पत्नी दी।

पर जो आग तरुण गौतम के भीतर लगी थी, वह इन साधनों से बुझ न सकी और एक दिन अपनी सुन्दर पत्नी यशोधरा को, दूधमुँहे बालक राहुल को छोड़ वह उस उपाय की खोज में चल पड़ा, जिससे संसार का कल्याण हो। सिर के बाल उसने खड्ग से काट डाले, वस्त्र उसने अपने सईस को दे डाले और घोड़ा घर लौटा दिया। अब वह साधु था, संन्यासी। अनेक मेधावी संन्यासियों से वह मिला। उनसे उसने वे प्रश्न पूछे, जो उसे सालों से विकल करते रहे थे—दुःख क्यों है ? मनुष्य बूढ़ा होकर मर क्यों जाता है, और जब तक वह ज़िन्दा है, व्याधियों का शिकार क्यों बना रहता है ? उत्तर मिले एक से एक बढ़कर भड़कीले, शब्दों के जाल में लिपटे हुए, पर उनसे इस तरुण संन्यासी को शान्ति न मिली। वह तो वह साधन ढूँढ़ रहा था जिसके पा जाने पर एकदम दुःखों का शमन हो जाए, जरा-मरण का अन्त हो

जाए। और जब वे उसे राह न बता सके तब उसने गया के महावन में जाकर सालों कठोर तपस्या की और एक दिन जब शरीर दुर्बल हो गया था और उसने समझ लिया था कि शरीर को इस प्रकार गलाने से कुछ लाभ नहीं होगा, तब वह स्नान आदि कर गाँव की लड़की सुजाता की लाई खीर खाकर तृप्त मन से पीपल के वृक्ष के नीचे आसन मार कर बैठा और ध्यानस्थ हुआ। तभी उसने उस वेला की नर्तकियों को उधर से जाते हुए गाते सुना—"वीणा के तारों को बहुत न खींचो, नहीं वे टूट जायेंगे, और उनको बहुत ढीला भी न करो, नहीं वे न बजेंगे।" और गौतम ने अपनी सिद्धि पा ली—वह मध्यम मार्ग—बीच का रास्ता—जो न अत्यन्त विलास का था न अत्यन्त तप का, वही उसके ज्ञान का, उसके बुद्धत्व का मंत्र बना। उसी को लेकर वह ४५ वर्ष तक मध्य-देश में निरन्तर फिरता रहा, निरंतर वह लोगों को अपना वह मार्ग उपदेशों द्वारा बताता रहा, जिसके दर्शन उसने इतने दिनों की साधना के बाद किये थे। अन्य आचार्यों से वैसे बुद्ध की सभी बातें भिन्न थीं। परन्तु एक महत्वपूर्ण बात जो उसने की, वह थी अपने भाषणों में जन-भाषा पाली का प्रयोग। इससे ब्राह्मणों के घमण्ड पर बड़ी चोट लगी। अब तक के दर्शन और उपदेश की भाषा ब्राह्मणों की अपनी संस्कृत रही थी। अब उस अभिजात भाषा को छोड़ बुद्ध ने जन-समूह के कानों तक सीधा पहुँचाने के लिये, उनकी बोली का आश्रय लिया। जिस प्रकार उनके उपदेश ब्राह्मण-धर्म के विद्रोही थे, उसी प्रकार इस जन-बोली का प्रयोग भी एक महान् विद्रोह था। वह उस प्रथम भारतीय धार्मिक क्रान्तिकारी की पहली सूझ थी। बौद्ध-धर्म के जनपरक होने में इस जन-भाषा के प्रयोग ने बड़ा काम किया। बोलने और सुनने वाले में एक अपनापा स्थापित हो जाता था, फिर अपने सादे आचरण, कृपालु स्वभाव, और निर्भीकता से बुद्ध ने अपने श्रोताओं के हृदय जीत लिये। सुनने वाले उनके उपदेश को गुनने लगे, उनके चेले बन संघ में दाखिल होने लगे। संघ प्रबल हो उठा। देश में तो वह धर्म कभी दुर्बल, कभी प्रबल

होता रहा परन्तु एशिया के बाहरी देशों में आज भी लोगों के दिलों में बौद्ध-धर्म के लिये श्रद्धा है।

उपदेश

बुद्ध के उपदेश अत्यन्त सरल थे। उस काल के दर्शन अन्यन्त जटिल थे और संस्कृत में कहे जाने के कारण उन्हें थोड़े ही जन समझ भी पाते थे। पर अब जो नया सत्य जनता की ही बोली में कहा गया तो वह सीधा उनके मन में जा बैठा। वह सत्य क्या था? पहले तो बुद्ध ने आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी उस जमाने के तर्क की ही जड़ काट दी। उन्होंने कहा कि मनुष्य के चरित्र की उन्नति में उनका कोई स्थान नहीं। किसी प्रश्न का उत्तर वे केवल 'हाँ' या 'नही' से नहीं दिया करते थे। उन्होंने कहा कि ऐसा हो भी नहीं सकता। हम किसी विषय पर उसके भाग-भाग पर, विभाजन करके ही विचार कर सकते हैं। इस शैली को बौद्ध दर्शन में 'विभज्यावाद' कहते हैं। बुद्ध का कहना था कि सब कुछ अनित्य है। अपने समय के अन्य उपदेशकों की ही भाँति उन्होंने भी जन्म को दुःख माना, परन्तु जहाँ दूसरे इसे सिद्धान्त का विषय बनाकर ही रह जाते थे, वहाँ बुद्ध में इस दुःख की गहराई घर कर लेती थी। दुःखी जनों या दुःख की छाया से उनका हृदय हिल जाता था। इस कारण दुःख के विश्लेषण और उसके प्रतिकार की ओर उनका विचार सबसे पहले गया। अहिंसा इसी कारण उन्हें विशेष प्रिय हुई। दुःख के सम्बन्ध में चार 'आर्यसत्य' कहे। ये चार आर्यसत्य थे—१. दुःख, २. दुःख-समुदय (दुःख का कारण), ३. दुःख-निरोध, और ४. दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा (दुःख के निरोध का मार्ग)। तात्पर्य यह था कि दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध है और उस निरोध का उपाय है। सब दुःखों का मूल तन्हा तृष्णा है। तन्हा के विनाश से ही दुःख का निरोध सम्भव है। तन्हा बड़ी बलवती है। जन्म-जन्मान्तर तक उसका प्रभाव रहता है। मृत्यु दुःख का अन्त नहीं कर पाती क्योंकि तृष्णा आवागमन और उसके दुःख को जीवित रखती है। इस तन्हा का

जीतना परमावश्यक है और इसे जीतने के लिये अष्टांगिक मार्ग पर चलना ही एकमात्र उपाय है। उस मार्ग के आठों अंग बुद्ध ने इस प्रकार गिनाए हैं—१. सम्यक् दृष्टि, २. सम्यक् संकल्प, ३. सम्यक् वाक् ४. सम्यक् कर्मान्त (उचित कर्म), ५. सम्यक् आजीव, ६. सम्यक् व्यायाम (उचित प्रयत्न), ७. सम्यक् स्मृति और ८. सम्यक् समाधि। यही बुद्ध की देखी 'मज्झिम-पटिपदा' यानी बीच का मार्ग थी। इस बीच के मार्ग पर चलकर गृहस्थ भी सिद्धि पा सकते थे। संघ में रहकर भिक्षुक निर्वाण के लिये इसी साधन से प्रयत्न कर सकते थे। संघ बौद्धों के संगठन का नाम था। बाद में संघ के भिक्षु विहारों में रहने लगे। भिक्षुओं को मन, वचन और कर्म से पवित्र रहना होता था। आचार और विनय निर्वाण की प्राप्ति में सहायक माने जाते थे। बुद्ध ने आचार के दस रूप रखे—दूसरे की वस्तु का लालच मत करो, हिंसा मत करो, मद्यपान न करो, असत्य मत बोलो, व्यभिचार मत करो, नाचने-गाने से दूर रहो, फूल और दूसरी सुगन्धित चीज़ों का सेवन मत करो, असमय भोजन मत करो, सुखकर बिस्तर पर मत सोओ और धन मत रखो। बुद्ध ने दस प्रकार के इस आचार पर विशेष ज़ोर दिया और इनमें से पहले पांच का आचरण उन्होंने गृहस्थ उपासकों के लिये आवश्यक बताया।

बुद्ध के उपदेशों की सादगी और सुकरता ने जग जीत लिया। अन्य आचार्यों की भाँति ज्ञान का कोई अंश, उन्होंने दबा न रखा। सत्य के जो दर्शन उन्होंने किए थे, उन्हें जैसे का तैसा लोगों की अपनी बोली में आत्मीय की भाँति उन्होंने रखा। दार्शनिक तर्कों से उन्होंने भिक्षुओं और गृहस्थों दोनों को दूर रखा। उन पर विचार करना भी बुद्ध ने एक प्रकार से निषिद्ध कर दिया। और इन सब से सरल बात थी उनकी उदारता। मनुष्यमात्र उनके उपदेशों को सुन और उन पर आचरण कर सकता था। वर्णों की शक्ति पर उन्होंने सबल प्रहार किया; कहा कि धर्म किसी ख़ास वर्ण का नहीं हो सकता। उनके धर्म और संघ

सभी वर्णों के लोग समान रूप से बिना किसी रोक-टोक के प्रवेश पा सकते थे। एक बार संघ में दाखिल हो जाने पर भिक्षुओं में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जा सकता था। इस रूप में बौद्ध-धर्म एक विश्व-धर्म सा बन गया। इसी से अनगिनत लोग, धर्म, बुद्ध और संघ की शरण में गये। इसी से लूट और लहू के नाम पर दौड़ पड़ने वाली मध्य एशिया की क्रूर जातियाँ भी बौद्ध होकर अहिंसा की उपासक हो गईं।

जैन-धर्म और सिद्धान्त

जैसा पहले कहा जा चुका है कि जैन-धर्म का उदय बौद्ध-धर्म के पहले हुआ। उसके प्रधान चलाने वाले वर्द्धमान महावीर तो बुद्ध के समकालीन ही थे, उम्र में कुछ उनसे बड़े, पर उस धर्म के आदि प्रवर्त्तक पार्श्व उस काल से प्रायः डेढ़-दो सौ वर्ष पहले हुए थे। जैन लोग अपने धर्म का आरम्भ बहुत प्राचीन काल में मानते हैं। उनका कहना है कि समय-समय पर २४ तीर्थंकरों ने उस धर्म का उपदेश किया। परन्तु उनमें से अधिकांश तो हमारे लिये नाममात्र हैं। पार्श्व ज़रूर ऐतिहासिक व्यक्ति थे जो काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और राज-पाट छोड़कर उन्होंने संन्यास ले लिया था। उनके उपदेश थे—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय (चोरी न करना), और ४. परित्याग। उनके सिद्धान्तों का विशेष प्रचार जैनों के अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर ने किया।

वर्द्धमान क्षत्रिय थे। उनका सम्बन्ध एक ओर तो उत्तर-बिहार के प्रसिद्ध लिच्छवी पंचायती राज से था, दूसरी ओर मगध के राजकुल से। उनके पिता सिद्धार्थ ज्ञात्रिकों के प्रधान थे और उनकी माता त्रिशला लिच्छवियों के प्रतिनिधि राजा चेटक की बहन थी। इसी चेटक की बेटी राजा बिम्बिसार को ब्याही थी। वर्द्धमान का जन्म वैशाली के पास कुण्डग्राम में हुआ। बचपन से ही उनका मन विरागी था, परन्तु विवाह करके कुछ काल तक उन्होंने गृहस्थ का जीवन बिताया। ३० वर्ष की आयु में उन्होंने संन्यास लिया। कुछ काल इधर-उधर घूमने के बाद वे घोर तप करने लगे। १२ वर्ष

तक तप करके उन्होंने अपने शरीर को जर्जर कर डाला। अन्त में उन्हें 'कैवल्य' प्राप्त हुआ। आसक्ति, मोह आदि के पाश और आवागमन की गाँठ से छूटकर वे 'निर्ग्रन्थ' कहलाए। तृष्णा आदि शारीरिक विषयों को जीतने के कारण उनका नाम 'महावीर' और 'जिन' पड़ा। 'जिन' से ही उनके चेले जैन कहलाये। तीस वर्ष तक निरन्तर महावीर मगध, अंग, मिथिला और कोशल में अपने धर्म का प्रचार करते रहे। तीर्थंकर पार्श्व के चार उपदेशों को लेकर उन्हीं में उन्होंने अपना पाँचवाँ यानी अखण्ड-ब्रह्मचर्य जोड़ दिया। ७२ वर्ष की अवस्था तक उपदेश करते हुए महावीर ने पावापुरी में शरीर छोड़ा।

सिद्धान्त

जैन भी वेदों को प्रमाण नहीं मानते। उनका कहना है कि यज्ञ से कोई लाभ नहीं। यज्ञों को हिंसा का साधन मानकर उन्होंने उनके ख़िलाफ़ अपनी ज़ोरदार आवाज़ उठाई और प्रचार किया। उनके विश्वास के अनुसार प्रत्येक वस्तु में, अणु तक में, जीव है। इसी कारण अहिंसा उनके आचरण का प्रधान अंग बन गई। जैन लोग परमात्मा अथवा विश्व के उत्पादक और पालकस्वरूप किसी शक्ति को नहीं मानते। उनके मत से ईश्वर जीव में ही छिपी शक्तियों का उच्चतम, श्रेष्ठतम और पूर्ण व्यक्तिकरण है। जैन-जीवन का लक्ष्य इस लोक के पाशों से छूट जाना है। जीव के आवागमन के कारण आदमी कार्मिक होता है। जन्मान्तर के कर्मों से छुटकारा होने पर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। कर्म से छुटकारा पाने के साधन 'त्रिरत्न' कहलाते हैं—सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण। जैनों में तप की बड़ी महिमा है। शरीर की यातना और योग की क्रियाओं को वे बड़ा महत्व देते हैं। तप से हुई मृत्यु विजय का लक्षण मानी जाती है। अन्न छोड़कर मरना भी उनके यहाँ प्रशंसनीय माना जाता है। जैनों का विश्वास है कि काया के तपने से आत्मा को शक्ति मिलती है और कामनाएँ दबी रहती हैं।

जैन और बौद्ध धर्म की तुलना—समानताएँ

जैन और बौद्ध दोनों धर्मों के चलाने वाले—महावीर और बुद्ध—क्षत्रिय थे, और ऊँचे कुल के थे। दोनों धर्मों में काफ़ी समानता है। दोनों में विरोध भी है। समानता इस प्रकार है—१—दोनों ने वेदों को प्रमाण नहीं माना और उनकी प्रामाणिकता का विरोध किया। २—यज्ञपरक कर्मकांडों का भी दोनों ने विरोध किया। ब्राह्मण-धर्म की विधि क्रियाएँ उन्हें असह्य थीं। ३—अहिंसा को दोनों ने सराहा। जैनों ने उस पर विशेष ज़ोर दिया। यज्ञों में जो पशु-बलि और रक्तपात होता था, उसका उन्होंने घृणा-पूर्वक विरोध किया। ४—दोनों का ईश्वर में अविश्वास था और उन्होंने उस पर विचार करना व्यर्थ समझा ५—जन्म के कारण व्यक्ति की विशेषता मानने से उन्होंने इन्कार किया और अपने संघों, मठों और विहारों में दोनों ने विभिन्न वर्णावलम्बियों को एक-सा स्थान दिया। ६—दोनों ने भावी जन्म का आधार कर्मों को माना। ७—जन-विश्वासों को दोनों ने क़ायम रखा, इस कारण दोनों में ब्राह्मण-धर्म की भांति अनन्त देवता और पुराण निर्मित हो गए।

विषमताएँ

इस प्रकार दोनों में प्रचुर साम्य तो अवश्य है, परन्तु उनकी पारस्परिक विषमताएँ भी थोड़ी नहीं हैं। उदाहरणत: १—बौद्धों ने अनात्मवाद का प्रचार किया, परन्तु जैनों का विश्वास है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में जीव है। २—बुद्ध ने अत्यन्त तप और अत्यन्त विलास के बीच के मार्ग को सराहा, परन्तु जैनों ने कायिक तप की अमित मर्यादा की। ३—जैनों में अहिंसा के प्रति बौद्धों से कहीं अधिक श्रद्धा है। ४—निर्वाण और मोक्ष-सम्बन्धी विचार भी उनके असमान हैं। ५—जैनधर्म के ग्रंथ अधिकतर संस्कृत या प्राकृत में लिखे गए, बौद्ध धर्म के ग्रंथ अधिकतर पाली में। दोनों के उत्थान और आरंभिक प्रचार की सीमाएँ प्राय: समान होने के कारण उनकी पारस्परिक समानताएँ अनिवार्य थीं, परन्तु उनका वैषम्य भी इतना था कि उनमें समय-समय

पर असहिष्णु स्पर्धा और ईर्ष्या की आग अनेक बार भड़क उठी।

साँख्य दर्शन

हिन्दू-दर्शनों में शायद सब से प्राचीन साँख्य दर्शन है। साँख्य, कपिल का लिखा हुआ माना जाता है। पर कपिल कौन थे, और कब हुए, इस *का कुछ पता नहीं। प्राचीन* परम्पराओं के अनुसार वे शायद बंगाल के रहने वाले थे। सांख्य दर्शन ईश्वर को नहीं मानता पर दार्शनिक परम्परा में बड़े आदर की वस्तु माना जाता है। उसका प्रधान सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। सत्कार्यवाद से तात्पर्य यह है कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु अपने कारण में विद्यमान रहती है। उत्पन्न होने का मतलब है केवल कारण का कार्य रूप में बदल जाना। इस प्रकार विनाश का अर्थ है कार्य का कारण में लीन हो जाना। मिट्टी से घड़े की उत्पत्ति होती है और घड़ा वाद में नष्ट होकर फिर मिट्टी में मिल जाता है। रूप बदल जाता है, नाश नहीं होता, घड़ा पहले भी मिट्टी में था, बाद में भी मिट्टी में ही लीन हो गया

साँख्य प्रकृति को संसार का कारण मानता है। प्रकृति अनादि और नित्य है। उसका अव्यक्त अवस्था से व्यक्त हो जाना ही संसार का बन जाना है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। जब गुणों की वह समता नष्ट हो जाती है और उनमें से एक प्रधान हो जाता है, तब उससे भिन्न-भिन्न पदार्थों का निर्माण होता है। परन्तु प्रकृति जड़ होने के कारण स्वयं अकेले संसार के रूप में प्रकट नहीं हो सकती। उसे उसी की भांति मूल और अनादि तत्व परन्तु चेतन 'पुरुष' की आवश्यकता होती है। दोनों अलग-अलग बेकार रहते हैं, पर दोनों के संयोग से सृष्टि बन उठती है। संसार के सब कार्य प्रकृति करती है, पर जब प्रकृति के संयोग से पुरुष अहंकार से ढक जाता है, तब वह प्रकृति के कार्य अपने ही मानने लगता है। जब वह भली-भाँति समझ लेता है कि करने वाला वह नहीं प्रकृति है, तब वह अहंकार से छूट जाता है और इसी छूट जाने को मोक्ष कहते हैं, क्योंकि फिर वह

जन्म-मरण के आवागमन में नहीं बँधता। साँख्य ईश्वर को नहीं मानता, केवल अनन्त-अनन्त आत्माएँ मानता है। उसके पुरुष और प्रकृति की स्वतन्त्र स्थिति के कारण उस सिद्धान्त का नाम 'द्वैत' पड़ा।

योग दर्शन

योग और सांख्य सिद्धान्त की दृष्टि से आपस में बहुत निकट हैं। 'योग' भी प्रकृति को ही संसार का कारण मानता है। प्रकृति के विकास की मंज़िलें भी उसकी साँख्य दर्शन की-सी ही हैं। दोनों में विशेष अन्तर केवल ईश्वर के सम्बन्ध में है। जहाँ सांख्य ईश्वर को नहीं मानता, वहाँ योग प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ ईश्वर को भी मानता है। उसका कहना है कि ईश्वर की भक्ति से पुरुष अहंकार से मुक्त हो जाता है और ईश्वर को योग द्वारा जानते हैं। योग चित्त के व्यापार का, उसकी वृत्तियों के निरोध का नाम है। योग के अंग आठ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग द्वारा मनुष्य अनेक प्रकार के चमत्कार भी कर सकता है। योग-सूत्र महर्षि पतंजलि के बनाए माने जाते हैं। ठीक-ठीक बताना तो कठिन है कि यह पतंजलि कौन थे परन्तु ई० पू० दूसरी सदी में पाणिनि के व्याकरण पर महाभाष्य लिखने वाले भी पतंजलि ही थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि भाष्य लिखने वाले और योग-दर्शन लिखने वाले दोनों पतंजलि एक ही रहे हों।

न्याय दर्शन

जैसे सांख्य और योग-दर्शन परस्पर निकट हैं, वैसे ही न्याय और वैशेषिक दर्शन भी आपस में निकट हैं, और दोनों का नाम सदा एक साथ लिया जाता है। न्याय वास्तव में तर्क दर्शन है, जिसमें युक्तियों और प्रमाणों पर अधिक ज़ोर दिया गया है। सारे दर्शन प्रकृति, पुरुष, ईश्वर, सत्य आदि के ज्ञान के लिये प्रमाणों की आवश्यकता मानते हैं। प्रमाण चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन्द्रियों से साक्षात् अनुभव करने को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, जैसे आँखों से देखना, कानों से सुनना, नाक से सूँघना, जीभ से चखना और त्वचा (चमड़ी)

से छूना। जब हम कुछ देखकर उसके साधन से अटकल लगाते हैं। तब उसे अनुमान कहते हैं, जैसे पहाड़ पर उठते धुएँ को देखकर कोई यह अनुमान करे कि वहाँ अग्नि ज़रूर होगी, क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। इस प्रकार धुएँ द्वारा अग्नि के होने का अनुमान किया गया। इसी प्रकार जानी हुई वस्तु की उपमा देकर जब हम अनजानी वस्तु को जानते हैं तब उसे उपमान कहते हैं, जैसे गाय की उपमा से चँवर वाली गाय को जानना। शब्द प्रमाण वेदों, ऋषियों आदि की कही हुई बात के आधार पर विश्वास क़ायम करने को कहते हैं। इन प्रमाणों की न्याय-दर्शन में बड़े विस्तार से छान-बीन हुई है। न्याय के अनुसार मूलतत्व तीन हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। चार्वाक लोग शरीर और आत्मा में कोई भेद नहीं मानते और उनकी राय में मरने के साथ ही शरीर के साथ-साथ जीव भी नष्ट हो जाता है क्योंकि शरीर से भिन्न जीव की कोई सत्त नहीं होती, परन्तु न्याय जीवात्मा को शरीर से भिन्न मानता है। न्याय-दर्शन की रचना करने वाले महर्षि गौतम माने जाते हैं।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक-दर्शन कणाद मुनि की रचना है। परम्परा के अनुसार कणाद खेतों में फ़सल कटने के बाद गिरे हुए 'कण' खाया करते थे जिससे उनका नाम कण खाने वाला 'कणाद' पड़ा, या यह शायद इस लिए कि उनके दर्शन में कण या अणुओं-परमाणुओं का विवेचन है। वैशेषिक भी दूसरे नामों से प्रायः वही चार प्रमाण मानते हैं। फर्क केवल इतना है कि वे उपमान की जगह स्मृति को प्रमाण मानते हैं, यानी कि जो ज्ञान वस्तु की याद से होता है उसको। उनके अनुसार संसार के कुल पदार्थ सात भागों में बाँटे जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय और अभाव। द्रव्य ९ प्रकार के होते हैं; गुण २४ प्रकार के; कर्म ५ प्रकार के। विशेष वस्तुओं की भिन्नता बताता है,

सामान्य उनकी समता। समवाय, वस्तुओं के नित्य सम्बन्ध को कहते हैं, जैसे गुण और गुणी, कारण और कार्य। अभाव का अर्थ है, वस्तु का न रहना। इस प्रकार वस्तुओं को भिन्न-भिन्न भागों में बांटने, उनका विश्लेषण करने और विशेष सूची में रखने के कारण वैशेषिक-दर्शन का यह नाम पड़ा।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा दो हैं, एक पूर्व मीमांसा दूसरा उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा के आचार्य जैमिनि थे। यह मीमांसा वैदिक कर्मकांड से सम्बन्ध रखता है और वेद के वाक्य को ईश्वर का विधान मानता हुआ शब्द-प्रमाण द्वारा यज्ञ को ही धर्म मानता है। मनुष्य अपने कर्मों द्वारा प्रारब्ध बनाता है, जिसे उस मीमांसा की भाषा में 'अपूर्व' कहते हैं। इस अपूर्व के फल से ही बाद में इच्छित फल मिलता है। मीमाँसा के लोग वेद को ईश्वर का बनाया हुआ मानते हैं और इसी से शब्द अर्थात् वेद उनके लिये प्रमाण है।

वेदान्त दर्शन

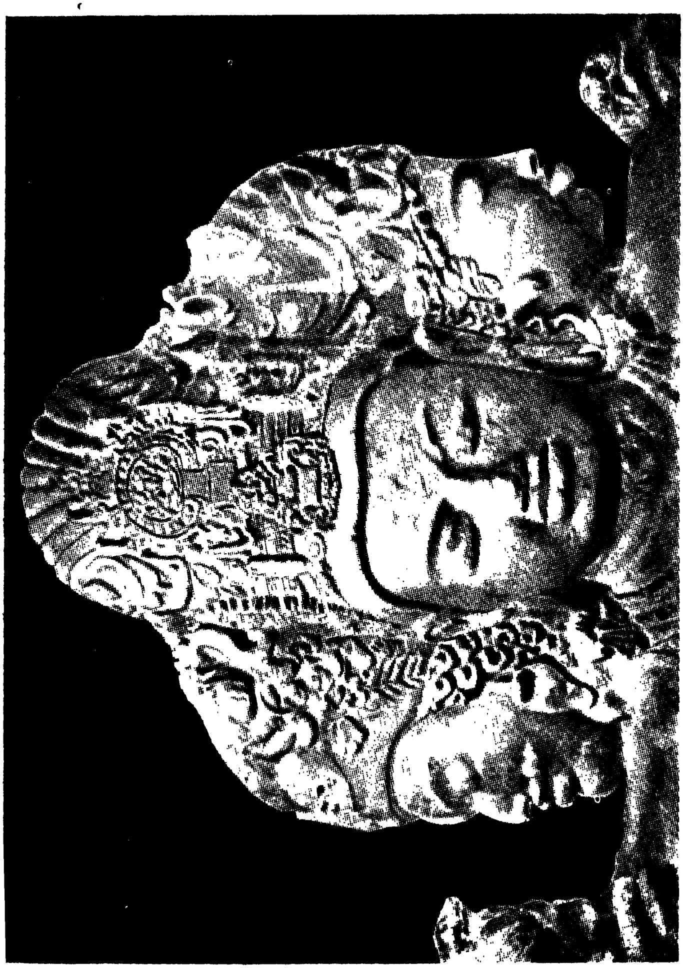
उत्तर मीमांसा का दूसरा नाम वेदान्त दर्शन है। उसके बनाने वाले बादरायण व्यास माने जाते हैं। वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म सत्य है। दूसरा कुछ सत्य नहीं। उससे भिन्न न तो जीव की कोई सत्ता है न प्रकृति की। दोनों ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म चेतन-स्वरूप है। जब उसकी चेतना पर इच्छा आदि का आवरण पड़ जाता है तब वह सृष्टि करता है, यानी अपना ही अनेक रूप से विकास करता है। बाद में स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्त मत का विश्वव्यापी प्रचार किया और जगत् को मिथ्या माना। शंकर ने सर्वत्र उस दर्शन का प्रचार किया। उनका भाष्य तर्क और दर्शन का आश्चर्यजनक ग्रन्थ माना जाता है। उस दर्शन में ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष तीनों को एक ही माना गया है, जिससे उसे 'अद्वैत' कहते हैं। इसी परम्परा में कुछ भेद के साथ अनेक

आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथ लिखे। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य।

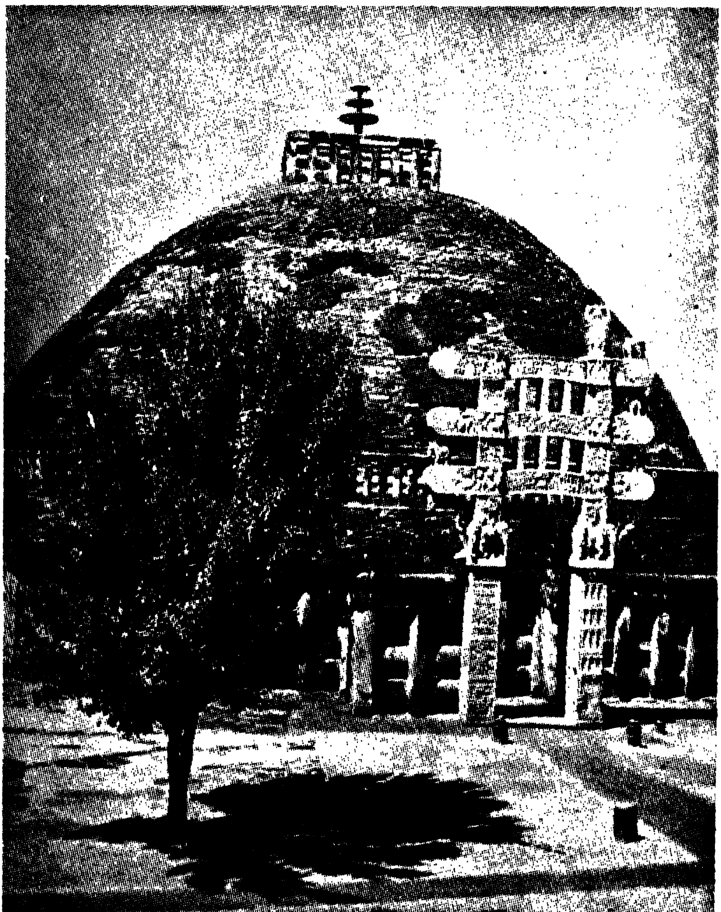
दर्शनों का भारतीय चिन्तन में बड़ा स्थान रहा है। वे इस देश के महान् गौरव हैं। उन्हीं के विरोध में अपने नये दृष्टिकोण को बौद्ध और जैन आचार्यों ने अपने दर्शनों में व्यक्त किया और नये चिन्तन का प्रकाश फैलाया।



नटराज



त्रिमूर्ति, एलिफांटा [मध्य युग, आठवीं- ती]



महास्तूप, सांची, (पहली शताब्दी ई०पू०)



मोहनजोदड़ो के टिकड़े

आठवाँ अध्याय

बुद्धकालीन संस्कृति

बुद्ध से पहले इस देश में सोलह महा जनपद थे, जिनमें कुछ के शासन राजाओं के हाथ में थे, कुछ के उन पंचायतों के हाथ में जो पहले से चली आती थीं। बुद्ध के जीवन-काल में ये जनपद बड़े प्रबल हो उठे। इनमें से एकाध तो कई बार राजाओं के शासन से निकलकर पंचायती राज बने, फिर राजाओं द्वारा शासित हुए और फिर पंचायती राज बन गए। बुद्ध के जीवन-काल में गण-तन्त्र या पंचायती राज करीब १० थे—कपिलवस्तु के शाक्य, सुमसुमार गिरि (चुनार) के भग्ग, अल्लकप्प के बुली, केशपुत्त के कालाम, रामग्राम के कोलिय, पावा के मल्ल, कुशीनारा के मल्ल, पिप्पलि वन के मौर्य, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवी। शाक्यों में ही बुद्ध का जन्म हुआ था और उन्हीं की एक शाखा मोरियों की सन्तान चन्द्रगुप्त मौर्य था। कालामों में महान् बुद्ध का समकालीन आचार्य आलार कालाम हुआ। कोलियों ने ही बुद्ध को माता और पत्नी दी थी। पावा के मल्लों में महावीर मरे और कुशीनारा के मल्लों में बुद्ध। मिथिला के विदेहों में ही प्राचीन काल में जनक जन्मे थे, और गार्गी और याज्ञवल्क्य ने वहाँ अपने ज्ञान का विस्तार किया था। लिच्छवियों का गणतन्त्र बड़ा प्रबल था। लिच्छवियों ने महावीर को जन्म दिया और उन्होंने बुद्ध और महावीर दोनों के उपदेश सुने। उनकी शक्ति नष्ट हो जाने पर भी उनका महत्त्व देश में इतना बना रहा कि पिछले काल के गुप्त राजा, चन्द्रगुप्त प्रथम ने उनकी बेटी ब्याह कर अपने को धन्य माना और अपने सिक्कों पर

अपनी पत्नी की मूर्ति खुदवा उस पर लिच्छवियों का नाम टँकवाया। इसी प्रकार उसके बेटे समुद्रगुप्त ने अपने को 'लिच्छवियों का नाती' कहकर अपना गौरव बढ़ाया। मगध की बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षा से अपनी रक्षा करने के लिये लिच्छवियों ने वज्जी आदि दूसरे पंचायती राज्यों का एक साथ संगठन कर अपना वज्जी-संघ बनाया। उसमें कुलों के प्रतिनिधि ७७०७ की संख्या में बैठते थे और राजा कहलाते थे। इस वज्जी-संघ की शक्ति को बुद्ध ने कभी सराहा था। पर एक दिन आपसी भेद के कारण वह संघ मगध साम्राज्य की सीमाओं में समा गया।

पंचायती राज गणराज्य कहलाते थे, और वे सब जब-तब मिलकर अपना संघ बना लिया करते थे। इन्हीं संघों के रूप में बुद्ध ने अपने धर्म का संघ बनाया। इन संघों का शासन बड़े प्रजातांत्रिक ढंग से होता था। उनकी सभा की बैठकें जिस हाल में होती थीं, उसे 'संघागार' कहते थे। नियत समय पर बैठकें होती थीं, और उनमें सदस्यों को बैठाने का काम एक प्रकार के 'आसनप्रज्ञापक' नाम के अधिकारी करते थे। बैठक में कोरम का होना ज़रूरी था और सदस्यों का कोरम (सभा के लिए कम से कम संख्या) 'गणपूरक' नाम का पदाधिकारी पूरा करता था। पहले प्रस्ताव की घोषणा की जाती थी, तब प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता और सुना जाता था। प्रस्ताव को 'प्रतिज्ञा' कहते थे। दो-दो तीन-तीन बार प्रतिज्ञा पढ़ी जाती थी। लोगों के चुप रहने पर प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत कर लिया जाता था, पर विरोध होने पर मत (छन्द) लिए जाते थे। मत 'शलाका' या लकड़ी के टिकटों द्वारा लिया जाता था। शलाकाओं को इकट्ठा करने वाला पदाधिकारी 'शलाकागाहापक' कहलाता था। प्रस्ताव का निर्णय बहुमत से होता था।

जाति या संघ का खर्च देश में उपजे चावल से चलता था। उनके मवेशी चारागाहों में चरते थे। गाँवों के अलग-अलग समूह थे और अनेक पेशे वालों के जैसे कुम्हारों, लुहारों के अपने-अपने गाँव थे। न्यायालय

में दोषी को दण्ड तब दिया जाता था, जब आठ प्रकार के न्यायालय एक के बाद एक उसे अपराधी करार दें। कहीं भी छूट जाने पर अपराधी स्वतन्त्र हो जाता था।

राजतन्त्र भी तब उन्नति पर था। वत्स, अवन्ती, कोशल और मगध उत्तर और मध्य भारत के तब के विशाल राज्य थे, जिनमें सीमा बढ़ाने के लिये बराबर संघर्ष हुआ करता था। धीरे-धीरे इनमें मगध प्रबल हुआ और उसने काशी और उत्तर बिहार के गणराज्य जीत कर अपना साम्राज्य स्थापित किया। मगध ने जैसे लिच्छवियों आदि को निगल लिया था, उसी प्रकार कोशल ने मल्लों, शाक्यों आदि को भी डकार लिया। पर मगध ने धीरे-धीरे कोशल, वत्स, अवन्ती, सबको जीत कर उत्तर भारत का पहला विशाल साम्राज्य खड़ा किया।

आर्थिक स्थिति

गाँव-नगर

बौद्ध-ग्रंथों से पता चलता है कि भारत की आबादी तब भी ज़्यादातर गाँवों में ही रहती थी। नदी, नाले या बड़े तालाबों के तट पर गाँव बसाए जाते थे। बीच में सटे-सटे घर खड़े होते थे और बाहर उनके चारों ओर लोगों के अपने-अपने खेत होते थे। सिंचाई की नहरें सबके काम आती थीं। पास के वनों पर सबका समान रूप से अधिकार होता था। चारागाह भी समूचे गाँव की होती थी। मवेशियों की देख-रेख के लिए 'गोपालक' नाम का पदाधिकारी होता था। ज़मींदारी न थी। छोटे-छोटे किसान अपने-अपने खेत बोते थे और लगान सीधे राजा को देते थे। गाँव की एक सभा होती थी, जिसकी अनुमति के विना, भूमि बेची या रहन नहीं रखी जा सकती थी। खेतों पर या तो किसान अपने आप काम करते थे या मज़दूरों या दासों से कराते थे। लगान उपज के छठे से बारहवें भाग तक होता था, जिसे गाँव का मुखिया राजा के लिए उगाह लेता था। मुखिया पुश्तैनी होता था, जिसे कभी-कभी गाँव की

सभा भी चुनती थी। गाँव में अपनी-अपनी सराएँ थीं, जहाँ यात्री टिकते थे। जीवन सादा और सुखी था। न बहुत धनवान् लोग वहाँ थे, न बहुत दरिद्र। अपराध कम होते थे और झगड़े पंचायत में निपटा लिए जाते थे।

अनेक नगर भी बन गए थे। पुराने नगरों के अलावा भी अनेक नगर अब प्रसिद्ध हो चले थे, जैसे मगध की राजधानी राजगृह, वत्स की कौशाम्बी, कोशल की श्रावस्ती, शाक्यों की कपिलवस्तु, वज्जियों की वैशाली, अंग की चम्पा, अवन्ती की उज्जयिनी, आदि। इनके अतिरिक्त काशी या वाराणसी, अयोध्या, मथुरा, तक्षशिला आदि भी प्रसिद्ध नगर थे। पाटलिपुत्र का निर्माण अभी नहीं हुआ था, पर कुछ ही दिनों बाद गंगा और सोन के संगम पर वह उठ खड़ा हुआ।

नगर परकोटे से घिरे होते थे। उनके मकान मिट्टी या ईंटों के बनते थे, जिनमें लकड़ी का काफी उपयोग होता था। ग़रीब मामूली मकानों में रहते थे, धनी सुन्दर, ऊँचे, रंगे और चित्रों से सजे मकानों में। धनी और ग़रीब के वर्ग नगरों में बन गए थे। नगर के धनी, सुख और विलास का जीवन बिताते थे। बड़े-बड़े सेठ धर्म और विलास दोनों के लिए धन का उपयोग करते थे। पर दरिद्रों का जीवन कष्टमय था। नगरों के उद्योग-धन्धे भी गाँवों से भिन्न थे।

शिल्प-कला

साधारण लोगों का पेशा खेती था, पर दूसरे अनेक धन्धे भी चलते थे। लकड़ी और धातुओं के अनेक प्रकार के काम होते थे। सोना, चाँदी और रत्नों पर कटाव किया जाता था। गाड़ी, रथ और नाव तथा जहाज़ बनाने वाले शिल्पियों को कभी काम से फुरसत नहीं मिलती थी। इसी प्रकार बड़े-बड़े राज भी थे, जिनका काम भवन और प्रासाद बनाना था। उस काल के बने राजगृह का परकोटा और जरासंध की बैठक आज भी पटने के पास राजगिर में खड़े हैं। कुम्हार, माली, जुलाहे और हाथी-दाँत का काम करने वाले सभी के पेशे भली प्रकार चलते थे।

इनके अलावा कुछ पेशे ऐसे भी थे, जिन्हें छोटा माना जाता था, जैसे, चमड़ा चिकनाने वाले, सँपेरे, बहेलिए, धीवर, नाचने वाले नट आदि। धंधे ज्यादातर कुलागत थे, पर पेशे बदलने में कोई दिक्क़त न होती थी। उस काल के साहित्य में धनुष चलाने वाले जुलाहे, खेती करने वाले क्षत्रिय, और व्यापार, बढ़ई या गोपालन का पेशा करने वाले ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है।

श्रेणी

उस काल शिल्पी यानी एक-एक पेशे के लोग अलग-अलग अपने-अपने संघ बना लेते थे जिनको 'श्रेणी' कहते थे। श्रेणी नगर के अलग-अलग भाग में या एक ही सड़क के दोनों ओर रहते थे जिससे वह भाग या सड़क उन्हीं के नाम से पुकारी जाती थी। बौद्ध जातकों में इस प्रकार की १८ श्रेणियों का ज़िक्र है। श्रेणी का मुखिया 'पमुख' या 'जेट्ठक' कहलाता था। उसकी प्रतिष्ठा बड़ी थी। कभी-कभी अनेक श्रेणियाँ मिलकर अपना एक बड़ा संघठन कर लेती थीं।

व्यापार

छठी सदी ई० पू० के व्यापार का हाल जातकों में मिलता है। भारत का व्यापार तब अनेक बाहरी देशों से होता था। स्थल और जल दोनों मार्गों से माल आता-जाता था। देश में भी वणिक् अपनी चीज़ें लिये नदियों या सड़कों से सर्वत्र आते-जाते थे। क्रय-विक्रय की चीज़ें अधिकतर निम्नलिखित थीं :— रेशम, मलमल, सुईकारी के काम, कम्बल, सुगन्धित-द्रव्य, ओषधियाँ, बर्तन, मोती, मणि, रत्न, कवच, हाथीदाँत, हाथीदाँत के काम वगैरह। समुद्री रास्तों से व्यापार करने के लिए समुद्र तट पर बन्दरगाह या पत्तन बने हुए थे। पूर्वी समुद्र में चीन, बर्मा, सिंहल आदि के लिए माल ताम्रलिप्ति से जाता था और बाबुल आदि पश्चिमी देशों को पश्चिमी तट के भड़ोंच आदि बन्दरगाहों से। देश में सड़कें थीं और नगर एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए थे। एक

राजमार्ग श्रावस्ती (अवध) से पैठन (हैदराबाद राज्य) तक जाता था। दूसरा श्रावस्ती से मगध में राजगिर तक, तीसरा उसी श्रावस्ती से चल कर सीमाप्रान्त की तक्षशिला तक पहुँचता था और चौथा काशी को पश्चिमी समुद्र के बन्दरगाहों से जोड़ता था। इन राजमार्गों या वणिक्-पथों पर बीच-बीच में ठहरने के लिए सरायें होती थीं। वणिक्-पथों पर दूर जाने वाले सार्थवाह या कारवाँ चलते थे। राजपूताना के रेगिस्तान में रात में चलने वाले कारवाँ अपना मार्ग नक्षत्रों की गति से पहचानते थे। काशी से चलने वाले सार्थवाहों के दल में हज़ार-हज़ार बैलगाड़ियों के एक साथ चलने का उल्लेख जातकों में मिलता है। वणिक्-पथ सुरक्षित न थे और सार्थवाहों को अपनी रक्षा के लिए अपने साथ हथियारबन्द सिपाही रखने पड़ते थे। तब भी मार्ग में छिपे हुए डाकू उनको मौका पाकर जब तब लूट लेते थे। देश के भीतर छोटी सड़कों का जाल बिछा हुआ था और नदियों के घाटों पर खेवे की नावें चलती थीं। देश में अनेक राज्यों से होकर बनियों को जो आना-जाना पड़ता था तो उन्हें प्रत्येक राज्य में माल पर चुंगी भी देनी होती थी जिससे चीज़ों का मूल्य भी बढ़ जाया करता होगा।

सिक्के

अब चीज़ों की बेच-ख़रीद विनिमय या उन्हें आपस में बदल कर न होती थी। देश में सिक्के चल पड़े थे जिन्हें कई प्रकार के चिह्नों से अंकित कर लिया जाता था। इसी से वे आज चिह्नांकित सिक्के कहलाते भी हैं। ताँबे के सिक्के कर्षापण कहलाते थे और सोने के सिक्के निष्क और सुवर्ण। मासक और काकनिका नाम के भी दो प्रकार के चौकोर सिक्के चलते थे। सिक्कों पर चिह्न बनियों की श्रेणियाँ अंकित करती थीं। वही उनका मान, वज़न आदि भी निर्धारित करती थीं।

ऋण और धन

ऋण और उधार चलते थे और उन पर ब्याज लिया जाता था।

ब्याज पर धन चलाना कानूनन जायज़ था, यद्यपि अधिक ब्याज लेना बुरा माना जाता था। धन से सोना या गहने खरीद कर लोग रखते थे। रुपये-पैसे बर्तन में रख कर कुछ लोग ज़मीन में गाड़ भी देते थे और उसका बीजक बना कर रख लेते थे। अनेक बार धन मित्रों के यहाँ रख कर भी उसका बीजक बना लिया जाता था।

नवाँ अध्याय

मौर्यों से पहले और मौर्यकाल

मौर्यों से पहले

ईरानी प्रभाव

जिन दिनों महावीर और बुद्ध इस देश में अपने उपदेश कर रहे थे, उन्हीं दिनों ईरान में एक विशाल साम्राज्य क़ायम था, जिसे दारा का साम्राज्य कहते थे। उस साम्राज्य में पश्चिमी पंजाब के कुछ भाग और सिन्ध भी शामिल था। हर साल कर के रूप में बहुत-सा सोना इससे ईरान जाया करता था और भारतीय सैनिक दारा और उसके उत्तराधिकारियों की लड़ाइयों में उनके दुश्मनों के खिलाफ़ लड़ते थे। ईरान का भारत के दो प्रान्तों पर यह राज करीब २०० वर्षों तक बना रहा और उसने बहुत कुछ उस काल की भारत की संस्कृति को प्रभावित किया। उसे उसने बहुत कुछ दिया।

संस्कृतियों में यह देना-लेना सदा से होता आया है। भारत ने स्वयं दूसरों को बहुत दिया पर लिया भी उसने कुछ कम नहीं है। जो लोग यह समझते हैं कि लेने का मतलब ज्ञान की कमी है। वे यह भूल जाते हैं कि उससे बढ़कर वह साहस और उदारता की अधिकता है। सब को लेना भी नहीं आता। भारत ने जो कुछ लिया उसे सभी प्रकार से अपना बना डाला और वह उसका बड़ा गौरव सिद्ध हुआ। उससे उसकी संस्कृति की काया अनेक प्रकार से सजी और सम्पन्न हुई।

छोटे-मोटे आचार की बातें जो भारत ने ईरान से अपने उस

सम्बन्ध से पाई, उनकी बात यहाँ न कहकर हम केवल इतना कहेंगे कि अशोक के दादा और चाणक्य के राजा चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य को रूप और शक्ति ईरानी साम्राज्य के आदर्श से ही मिली। उसके लम्बे-चौड़े रूप से चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने यह सीख ली कि विशाल साम्राज्य का एक ही राजा के शासन में कस कर बँध जाना देश के लिए उत्तम है और उन्होंनें भारत के छोटे-छोटे पंचायती राज्यों का अन्त कर विशाल साम्राज्य की स्थापना की। फिर उन्होंने यह देखा कि सिकन्दर की कुछ ही चोटों से वह साम्राज्य बिखर गया। इससे उन्होंनें उस स्थिति से बचने के लिये शक्ति को राजा के हाथ में केन्द्रित कर दिया। पर प्रान्तों में बाँटकर साम्राज्य की स्थापना करना ईरानी सम्बन्ध का ही फल था।

भारतीय संस्कृति पर ईरान का दूसरा प्रभाव कला के क्षेत्र में पड़ा। इस देश में पहले स्तम्भ खड़े करने का रिवाज न था। अशोक ने दो ही पीढ़ी बाद दारा के स्तम्भों की ही भाँति अपने स्तम्भ खड़े किये। उनके ऊपर हाथी, साँड, सिंह आदि का मस्तक बैठाना और चिकनी पालिश से उनको चमका देना भी इस देश में ईरान से आया, जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था बहुत दिनों से चली आ रही थी। उनके ऊपर अपने उपदेश भी अशोक ने लिखवाए। ऐसे ही चट्टानों पर भी उसने अपने शान्ति के सन्देश खुदवाए। ईरान में, और उससे भी पहले असुर देश में, चट्टानों और स्तम्भों पर राजा अपनी विजय लिखवाया करते थे। अपने देश में उससे पहले न स्तम्भ थे और न चट्टानों पर ही बड़े-बड़े लेख लिखे जाते थे। अशोक ने लेखों का तरीका वहाँ से लेकर उनको बदल दिया, क्योंकि इस देश की संस्कृति शान्ति की अधिक रही थी।

ग्रीक प्रभाव

भारत का दूसरा सम्पर्क तब सिकन्दर के ग्रीकों से हुआ, जब मगध में शूद्र नन्दराज राज करते थे और चन्द्रगुप्त अभी तरुण था। सिकन्दर ने अनेक देश जीतने के बाद भारत पर भी हमला किया और उसके पंजाब

और सिन्ध के कुछ भाग जीत लिए। वह जीत उसे महँगी पड़ी और पग-पग पर वीर जातियों ने उसकी राह रोकी। अन्त में जब उसके ग्रीकों ने व्यास नदी के तीर हथियार डाल दिए, तब उसे अपनी इज्जत बचाकर लौटना पड़ा। पर लौटना भी कुछ आसान न था क्योंकि अनेक जातियाँ अब भी उससे बगैर लड़े राह देने को तैयार न थीं। जगह-जगह उसके विरुद्ध विद्रोह होते रहे और उसके लौटने के बाद तो कुछ ही दिनों के भीतर चन्द्रगुप्त ने उत्तर भारत से उसकी विजय के सारे चिह्न मिटा दिए। फिर भी उसका प्रभाव भारत पर पड़े बगैर न रहा और अधिक नहीं तो कम से कम पश्चिम के साथ स्थल की राह व्यापार का पथ तो चौड़ा हो ही गया; साथ ही सारे एशिया में जो अनेक ग्रीक-राज्य खड़े हो गये, उन्होंने भारत पर हमला कर उसके अनेक भाग जीत उसकी संस्कृति को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। सिकन्दर के साथ आए लोगों में कुछ लेखक भी थे, जिन्होंने उस काल की इस देश की दशा का वर्णन किया है और वह नीचे दिया जाता है।

सामाजिक अवस्था

सौभूति के राज्य में शारीरिक सौन्दर्य का इतना महत्व था कि नए जन्मे बच्चे को लोग वहाँ तभी जीवित रखते थे, जब उसे सुन्दर और उसके अंगों को मजबूत पाते थे। विवाह में भी दोनों पक्षों का सुन्दर होना आवश्यक था। कठों या दूसरी जातियों में सती-प्रथा प्रचलित थी। तक्षशिला के बाज़ारों में निर्धन पिता अपनी कन्याओं को बेच देते थे। कहीं-कहीं मृतक का संस्कार न कर उन्हें गिद्धों का आहार बना दिया जाता था। तक्षशिला के रहने वाले जब तब एक से अधिक विवाह कर लेते थे।

धार्मिक अवस्था

ब्राह्मण-धर्म का सर्वत्र प्रचार था। ब्राह्मण लोग अपने महान् त्याग, ऊँचे आचरण और गम्भीर ज्ञान के कारण आदरणीय थे। राजा उनकी सलाह से कार्य करते और प्राण तक दे सकते थे। ग्रीकों ने अनेक साधुओं

का भी ज़िक्र किया है। बौद्ध साधु भी ब्राह्मण साधुओं की ही तरह बल्कल पहनते, जंगलों में रहते और कन्द-मूल-फल खाते थे। भारतीय तब इन्द्र, कृष्ण और बलराम की पूजा करते थे। इसी प्रकार गंगा और पेड़ों को भी वे पूजते थे। ग्रीक-लेखकों ने ब्राह्मण साधुओं के ज्ञान और साहस का बड़ा बखान किया है। एक साधु ने सिकन्दर से कहा कि "हम भी तुम्हारी ही तरह मनुष्य हैं, फ़र्क बस इतना है कि हम शान्ति-पूर्वक रहते हैं और तुम विक्षिप्त की तरह अपना घर छोड़कर दूर-दूर जाकर दूसरों के काम में ख़लल डालते फिरते हो, अपने आप भी तकलीफ़ बर्दाश्त करते हो और दूसरों को भी तकलीफ़ में डालते हो, छिः।" सिकंदर उसकी हिम्मत देखकर दंग रह गया। सिकन्दर ने उनकी निडरता देखकर एक बार दस ऐसे साधुओं को पकड़वा लिया। उनमें से एक को जज बनाकर उसने कहा कि "मैं इन दसों साधुओं से एक-एक सवाल करता हूँ, तुम सुनो और बताओ कि इनमें सबसे ज्यादा हाज़िर-जवाब कौन है। सबसे ज्यादा हाज़िर-जवाब को सबसे पहले और उसी सिलसिले से दसों की जान लूंगा।" जज आसन पर बैठ गया। साधु लोग नंगे थे, क्योंकि वे नंगे ही रहते थे। वे अपनी हाज़िर-जवाबी के लिए मशहूर थे। सिकन्दर ने उनमें से एक से पूछा—तुम्हारे विचार में जीवित आदमी ज्यादा हैं कि मरे हुए ? पहला साधु बोला—ज़िन्दा आदमी ज्यादा हैं, क्योंकि मरे हुए मर कर नहीं रहते। सिकन्दर ने दूसरे से पूछा—जीव समुद्र में ज्यादा हैं कि पृथ्वी पर ? उत्तर मिला—पृथ्वी पर, क्योंकि समुद्र पृथ्वी का ही एक हिस्सा है। तीसरे साधु से उसने पूछा—जानवरों में सबसे बुद्धिमान कौन है ? साधु बोला—वह, जिसका पता मनुष्य अब तक नहीं लगा सका। सिकन्दर ने चौथे से पूछा—तुमने शंभु को बग़ावत करने के लिए क्यों उकसाया ? वह बोला—इसलिए कि मैं चाहता यह था कि वह अगर जीये तो इज्ज़त के साथ और मरे तो इज्ज़त के साथ। पाँचवें साधु से पूछा गया—पहले कौन बनाया गया, दिन या रात ? उस साधु ने झट उत्तर दिया—दिन, रात से एक दिन पहले। सिकन्दर

कुछ समझ न सका, चकरा गया। उसने पूछा—इसका क्या मतलब ? साधु बोला—असंभव सवालों के जवाब भी असंभव होंगे। लोगों ने उसकी निर्भीकता पर दाँतों-तले उँगली दबा ली। छठे साधु से सिकन्दर ने सवाल किया—मनुष्य किस प्रकार दुनिया का प्यारा हो सकता है ? साधु बोला—बहुत ताक़तवर मगर साथ ही प्रजा का प्यारा होकर, जिससे प्रजा डरे नहीं। सातवें से पूछा गया कि मनुष्य देवता कैसे बन सकता है ? उसने उत्तर दिया कि मनुष्य देवता ऐसे काम करके हो सकता है, जो मनुष्य न कर सके। फिर आठवें साधु से सिकन्दर ने पूछा कि जीवन और मृत्यु दोनों में बलवान् कौन है ? उस साधु ने झट उत्तर दिया कि जीवन, क्योंकि वह भयानक से भयानक तकलीफ बर्दाश्त कर सकता है। सिकन्दर ने तब नवें साधु से पूछा—कब तक जीना इज्ज़त से जीना है ? साधु बोला—जब तक मनुष्य नहीं सोचता कि अब जीने से मर जाना अच्छा है।

अन्त में सिकन्दर उस साधु की ओर फिरा, जो जज बना हुआ था। उसने उससे पूछा—किसका जवाब सबसे अच्छा है ?

साधु भला अपने भाइयों की जान कैसे ले सकता था। उसने बड़ी युक्ति से सोचकर जवाब दिया—जवाब एक से एक अच्छा है। इस पर सिकन्दर ने कहा कि तुमने इतना ख़राब न्याय किया कि मैं सबसे पहले तुम्हें ही यमलोक पठाऊँगा। इस पर साधु बोला—राजन्, ऐसा करने से तुम ख़ुद झूठे साबित होगे। तुमने मुझसे पूछा था कि कौन जवाब सबसे अच्छा है, मैंने कहा जवाब एक से एक अच्छा है। इसका मतलब यह है कि जवाब एक से एक बढ़कर है। अब अगर तुम मुझे या इन्हें मारोगे तो झूठे बनोगे। सिकन्दर उसकी इस चतुराई पर चकित रह गया और उसने सबको छोड़ दिया।

आर्थिक स्थिति

तब के पंजाब में अनेक नगर थे—मस्सग, अरण्य, तक्षशिला, पिंप्रम, संगल, पत्तल आदि के अतिरिक्त ग्लौसाई लोगों के ३७ नगर। भारतीय

राजाओं और इन नगरों द्वारा दी हुई सिकन्दर की भेंटों से उस स्थिति का पता चलता है। सोने के तार खिंचे वस्त्र पहने क्षुद्रक लोगों के दूतों ने उसे बहुत-सी वस्तुएँ भेंट में दी थीं, जैसे सूती वस्त्र, कछुए का चमड़ा, गो-चर्म के बने बकलस और सौ भार लोहा। तक्षशिला के राजा आम्भी ने उसे २८० भार चाँदी और सोने के मुकुट दिए थे। उस प्रदेश में बराबर बैलों की सुन्दर नस्ल होती रही है। सिकन्दर ने २, ३०,००० दर्शनीय बैल मकदूनियाँ भेजे थे। आम्भी की भेंट में भी ३००० मोटे बैल और १०,००० भेड़ें थीं। इससे प्रकट है कि पंजाब और सीमा के रहने वाले खेती और पशुपालन में बड़े कुशल थे। बढ़ई और लुहार के काम बड़ी सुन्दरता से होते थे। वे युद्ध के लिए रथ और खेती, व्यापार आदि के लिए गाड़ी, पहिए, हल आदि बनाते थे। नावें भी देश में बनती थीं। सिकन्दर ने नावों द्वारा ही सिन्ध पार किया था और जहाज़ों में ही भर कर आधी सेना फ़ारस के तट पर भेजी थी।

तक्षशिला

पंजाब के नगरों में तक्षशिला तब बहुत प्रसिद्ध था। वह पहले प्राचीन गान्धार की राजधानी था और एशिया और भारत के व्यापारिक पथ पर बसा था। उसका महत्व सब से बढ़ कर वहाँ के विश्वविद्यालय से था, जहाँ न केवल इस देश के, बल्कि विदेशों के भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे। इस देश का तो वह प्राचीनतम विश्वविद्यालय था। बुद्ध के समकालीन राजा प्रसेनजित और बुद्ध की चिकित्सा करने वाले वैद्यराज जीवक, व्याकरण के महान् पण्डित पाणिनि और कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने वहीं शिक्षा पाई थी। वहाँ वेद, वेदांग आदि विद्याएँ और शिल्प आदि कलाएँ सिखाई जाती थीं। चिकित्सा में भी वह विश्वविद्यालय बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वहाँ साँप काटे का इलाज बहुत अच्छा होता था। आँखों की चिकित्सा भी वहाँ होती थी। और चीन के एक राजकुमार की आँखें जब दुनियाँ में कहीं अच्छी न हो सकीं, तो वहीं चीर कर

अच्छी की गई। तक्षशिला का वह विश्वविद्यालय ई० सन् की पहली सदी तक क़ायम रहा था।

राजनीति

पश्चिम और उत्तर का भारत तब छोटे-छोटे राज्यों और गणतंत्रों में बँटा हुआ था। पूर्व में गंगा पार मगध का साम्राज्य था, जिसके राजा नन्द की ताक़त से डर कर ग्रीकों ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था। तक्षशिला, अभिसार और पुरु के राज्य, पंजाब में मुख्य थे। तक्षशिला का राज्य सिन्ध और झेलम के बीच था। वहीं के राजा आम्भी ने भारत का सिंहद्वार सिकन्दर के सामने खोल दिया था। अभिसार तक्षशिला का पड़ोसी राज था, पुंछ और नौसेरा ज़िलों पर फैला। पुरु का छोटा राज झेलम और चिनाब के बीच था। इनके अतिरिक्त और कई छोटे छोटे राज्य थे। मगर उनसे कहीं अधिक महत्व पंजाब और सिन्ध के उन पंचायती राज्यों का था जो गणतन्त्र कहलाते थे। उस काल के देश के पूर्वी गणतन्त्रों का वर्णन हम पहले कर आये हैं, पंजाब के गणतन्त्रों में प्रधान हैं, नदियों के बीच के, कठ, शिबि, अग्रश्रेणी, मालव और क्षुद्रक। कठ लोग बड़े पराक्रमी थे और उनमें स्वयंवर और सती-प्रथाएँ प्रचलित थीं और सब से सुन्दर तथा तेजस्वी पुरुष वहाँ का शासक चुना जाता था। शिबियों ने सिकन्दर का सामना लाठियों से किया था और अग्रश्रेणियों ने अपमान के डर से अपने बच्चों के साथ अग्नि में प्रवेश किया था। कठों ने कभी कठोपनिषद् लिखा था। अग्रश्रेणी शायद बाद में अग्रवाल हो गए, जैसे अरट्ट अरोड़े और अम्बष्ट, कायस्थ। गणतन्त्रों में सबसे अधिक बलशाली मालव और क्षुद्रक थे जो रावी के दोनों तीरों पर बसे थे। मालव हँसिया और तलवार साथ-साथ धारण करते थे और उन्होंने सिकन्दर को बड़े ख़तरे में डाल दिया था। सिकन्दर के लौटने के बाद, चाणक्य और चन्द्रगुप्त की संहारक नीति से अपनी रक्षा के लिये उन्हें पूर्वी राजपुताने की राह मालवा में जा बसना पड़ा। वहाँ से उन्होंने शकों

को निकाल कर अपना मालव संवत् चलाया जो शायद बाद में विक्रम संवत् भी कहलाया। मालवों के नाम पर ही मालवा का नया नाम पड़ा। उसका पुराना नाम अवन्ती था। शायद मालवों का कुछ सम्बन्ध आज़मगढ़ के आसपास के मल्लों से भी रहा था।

मौर्य-काल

अजातशत्रु को समाप्त कर मगध की गद्दी पर शूद्र राजा नन्द बैठा। नन्द ने मगध को साम्राज्य बना डाला। सारे क्षत्रिय राजा मार डाले और उनके राज छीनकर अपनी सेना और धन बड़ी मात्रा में बढ़ा लिए, इतना कि एक बार विश्वविजयी सिकन्दर की सेना भी उससे डर कर लौट गई। उसके सेनापति चन्द्रगुप्त और पुराने शत्रु चाणक्य ने मिलकर उसका सर्वनाश कर दिया। चन्द्रगुप्त फिर मगध की गद्दी पर बैठा और उसने मौर्य साम्राज्य का आरम्भ किया।

चाणक्य की मदद से उसने समुद्र से समुद्र तक और हिन्दुकुश से मैसूर तक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। उस साम्राज्य को चाणक्य ने अनेक प्रान्तों में शासन के लिए बाँट दिया और महत्व के केन्द्रों पर राजकुमार या विश्वासपात्र सामन्त शासक रख दिये। गणतंत्रों की सत्ता नष्ट हो गई क्योंकि वे अपनी आज़ादी के बड़े प्रेमी थे और उस आज़ादी के रहते साम्राज्य शक्तिमान नहीं हो सकता था। सेल्यूकस को हराने के बाद हिन्दुकुश तक के उसके चारों सूबों के साथ विवाह के लिये चन्द्रगुप्त को एक ग्रीक राजकुमारी भी मिली थी, और साथ ही मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में ग्रीक राज्य का मेगस्थनीज नाम का एक राजदूत भी रहने लगा था। उस राजदूत ने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में आँखों देखा, इस देश का हाल लिखा है।

पाटलिपुत्र तब तक बस चुका था। वह सोन और गंगा के कोण में लकड़ी के परकोटे से घिरा हुआ ९ मील लम्बा और डेढ़ मील चौड़ा बसा था। उसके परकोटे में ५०० से ऊपर बुर्जियाँ थीं और ६० से ऊपर द्वार थे। बाहर सोन के पानी से भरी खाई थी। चन्द्रगुप्त का, पत्थर और

लकड़ी का बना विशाल महल एक बड़े पार्क में उस परकोटे के भीतर खड़ा था। उसकी सुन्दरता, मेगस्थनीज़ लिखता है, ईरान के शूषा और एकबताना के राजमहलों से कहीं बढ़कर थी। उसके खम्भों पर सुनहरी लताएँ बनी थीं जिनकी टहनियों पर चाँदी के पक्षी बैठे थे। राजा ईरानी राजाओं की तरह सभा-भवन में अपने केश धोता था और लकड़ी के बने रोलरों से तेल की मालिश कराता था। वह जानवरों की लड़ाई देखता था और उनकी दौड़ पर उसके अमीर बाज़ी लगाते थे। जब कभी वह यज्ञ या शिकार के लिये महल से बाहर निकलता, उसकी पालकी ग्रीक नारी शरीर-रक्षकों से घिरी रहती। उसका दण्ड-विधान बड़ा कठोर था और शिकार के लिए घेरा बनाने वाली रस्सी के भीतर घुस जाने के लिए भी प्राण-दण्ड मिलता था।

पाटलिपुत्र के इन्तज़ाम का जो वर्णन मेगास्थनीज़ ने किया है वह शायद सभी नगरों के सम्बन्ध में सही था। उसका शासन छः समितियाँ करती थीं जिनमें प्रत्येक के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। एक समिति शिल्प और कला की देख-रेख करती थी, दूसरी विदेशियों की, तीसरी जन्म-मरण की रजिस्ट्री करती थी, चौथी वाणिज्य आदि का प्रबन्ध करती थी, पाँचवीं चीजों की बनावट की अच्छाई-बुराई देखती थी और छठी कर वसूल करती थी। इस रूप से माल में अच्छी सामग्री का इस्तेमाल होता था। कलाकारों और मिस्त्रियों की मजूरी ठीक-ठीक निश्चित हो जाती थी। शिल्पियों के हितों की रक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था। विदेशियों को आने-जाने की सुविधा थी और उनके मरने पर अन्त्येष्टि-कर्म का भी इन्तज़ाम होता था। बाट-बटखरे भी बराबर राज की ओर से देख लिए जाते थे। खेतों से विशेष लाभ था, इससे सिंचाई का राज की ओर से प्रबन्ध था।

जिस सेना ने जीतकर इतना बड़ा साम्राज्य खड़ा किया था, उसका इन्तजाम छः समितियाँ करती थीं। एक समिति जहाज़ी बड़े को देखती थी, दूसरी सेना की आवश्यकताएँ प्रस्तुत करती थी। तीसरी पैदल सेना

का इन्तज़ाम करती थी, चौथी घुड़सवार सेना, पाँचवी रथों का और छठी गजों का।

इसी काल चन्द्रगुप्त के प्रसिद्ध मंत्री चाणक्य ने अपना अर्थशास्त्र लिखा। वह उस काल के शासन और समाज का दर्पण है। उससे पता चलता है कि राजा मंत्रियों और विभागों के अध्यक्षों की मदद से अपने साम्राज्य पर शासन करता था। शूद्रों पर काफ़ी सख्ती थी जो शायद इसलिए कि चाणक्य ने जिस नन्दराज का नाश किया था वह स्वयं शूद्र था और इससे शूद्र काफ़ी प्रबल हो गये होंगे, जिनको उसकी राय में दबा रखना जारी था। चाणक्य ने अपने उस अर्थशास्त्र में राज्य के सारे विभागों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है और राज्य के शासन में कूटनीति को सबसे अधिक महत्व दिया है। उसके विचार में अपना कार्य सिद्ध करने के लिए राजा को अच्छा-बुरा कोई साधन अपनाने में आगा-पीछा नहीं करना चाहिए।

अशोक

चन्द्रगुप्त मौर्य के पोते अशोक ने शासन की शक्ल ही बदल दी। पहले जो आदर्श किताबों में राजा के लिये लिखे गये हैं, वे वहीं रह जाते थे और राजा अपने मन की किया करता था। अशोक ने न केवल उन आदर्शों को सही कर दिया बल्कि वह उनसे भी आगे बढ़ गया, उन आदर्शों का भी आदर्श बन गया।

कलिंग देश (उड़ीसा) जीतते समय जो लाखों आदमी नष्ट हो गए तो युद्ध की क्रूरता से मुँह मोड़कर उसने बुद्ध की शरण ली और शान्ति का व्यापक प्रचार किया। अब तक की राजनीति रक्त से सनी थी। अब उसने उसको शान्ति की नींव पर रखा। साम्राज्य उसने अपना परिवार माना। अपने सन्देश में उसने लिखवाया कि उसकी प्रजा उसके पुत्र-पौत्रों की तरह है और जैसे वह अपने पुत्र-पौत्रों के लिये भलाई और सुख चाहता है, वैसे ही वह अपनी प्रजा के लिए भी भलाई और सुख चाहता है, उसने अपनी प्रजा के बीच

अनेक राज-कर्मचारी नियत कर दिए जिनका काम धाय की तरह जनता को बच्चे-सा सम्हालना था। मौर्य-दण्ड बड़े कठोर थे, उनको उसने अनेक उपायों से नरम कर दिया। उसने ऐलान किया कि अब वह कभी युद्ध-यात्रा नहीं करेगा और उसके राज में भेरी-घोष की जगह अब धर्म-घोष होगा। उसने कहा कि उसके साम्राज्य में सब को बसने का अधिकार बराबर है। सारे सम्प्रदाय जहाँ चाहें बसें, पर आपस में प्रेम का बर्ताव करें। उसने उपदेश दिया कि सभी सम्प्रदायों में अनेक अच्छी बातें हैं और उनका आदर करना चाहिए। संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, भक्ति, पवित्रता, साधुता, दया, दान, सत्य, आवश्यक गुण हैं। गुरु और बड़ों की सेवा और ब्राह्मणों, श्रमणों और दुखियों को दान देना आवश्यक है। उसने अनेक कुरीतियाँ बन्द करा दीं। जीव-हिंसा और हिंसा से भरे यज्ञ सब बन्द कर दिए। इसके अतिरिक्त उसने अपने देश में सड़कें बनवाईं, उनके दोनों ओर मनुष्यों और पशुओं के लिये छायादार और फल वाले वृक्ष लगवाए और बीच-बीच में पड़ाव बनवाए। देश में तो उसने पशुओं और मनुष्यों की दवा-दारु का इतज़ाम किया ही, पास के पड़ोसी राज्यों और दूर के ग्रीक राज्यों में भी उसने दवाएँ बँटवाईं और जानवरों और आदमियों की चिकित्सा में काम आने वाले पौधे लगवाए। अपने सन्देश और उपदेश उसने पहाड़ों की चट्टानों पर लिखवा दिये और विशाल स्तम्भों पर खुदवा कर उन्हें सम्राज्य में सर्वत्र घनी आबादियों में खड़ा कर दिया।

बौद्ध-धर्म का प्रचार

अशोक यद्यपि बौद्ध हो गया था पर उसने इस कारण दूसरे सम्प्रदाय वालों के साथ किसी प्रकार की ज्यादती न की। उसके उपदेश भी कुछ ऐसे थे जो किसी खास धर्म के न थे बल्कि मानवता सम्बन्धी थे। फिर भी उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए बड़ा काम किया। उसने बौद्ध-पंडितों की तीसरी सभा पाटलिपुत्र में की और उसकी बैठक के बाद अनेक पंडित भारत की सीमा के देशों और विदेशों को भेजे।

अत्यन्त दु:ख झेलकर उन पंडितों ने विदेशों की यात्रा की और वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। उन्हीं में उसका बेटा महेन्द्र और बेटी संघमित्रा भी थे जो भिक्षु बनकर लंका जा बसे। अशोक ने यहाँ तक ऐलान किया कि "वह दिन-रात प्रजा की भलाई के लिये कार्य करता है। उसने अपने अधिकारियों को आज्ञा दी कि चाहे वह भोजन करता हो, चाहे अन्त:पुर में हो, चाहे शयनागार में, चाहे उद्यान में हो, सब जगह, सब घड़ी, प्रजा के काम के लिये उसे तुरन्त सूचना दी जाये। वह कहता है कि मैं जो कुछ परिश्रम करता हूँ, वह इसलिए है कि जीवों के प्रति मेरा ऋण है, उससे मैं उऋण हो जाऊँ, यहाँ लोगों को सुखी करूँ और परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। और वही लोकहित का कार्य मेरी स्त्री, बेटे, पोते और पड़पोते करें।" इस प्रकार अपनी प्रजा के लिये ममत्त्व किसी राजा के मन में कभी नहीं हुआ। इसी कारण अशोक संसार के सभी काल के सभी राजाओं में महान् था। भारत को उस पर बड़ा गर्व है क्योंकि भारत की संस्कृति को वह गौरव देने वाला है। और उसने उस संस्कृति के शान्ति और सहिष्णुता इन दो पहलुओं को न केवल शक्ति दी है बल्कि उनको हिमालय की चोटियों से अधिक ऊँचा उठाया है। जिस शान्तिमय सांस्कृतिक विजय का भारत को गर्व है, उसमें प्रेम, समवेदना और भाईचारे का पहला क़दम अशोक ने उठाया था। उसी का यह परिणाम हुआ कि एक दिन लंका से जापान तक और चीनी समुद्र से भूमध्य सागर तक बौद्ध-धर्म का बोलबाला हुआ और रक्त की होली खेलने वाली जातियों ने तलवार फेंक त्याग का बाना पहना।

कला

मौर्य-कला के दो रूप हैं। एक तो देशी, दूसरा राजकीय। देशी कला का रूप हमें उस काल या उसके पहले की मूर्तियों में मिलता है। जनविश्वास में यक्षों की प्रधानता थी और उनकी मूर्तियाँ तब अक्सर बनाकर पूजी जाती थीं। यक्ष भी गंधर्वों, विद्याधरों, सिद्धों आदि की

तरह देवताओं से नीचे और मनुष्यों से ऊपर की जाति माने जाते थे। बाद में तो उनका सम्बन्ध प्रेम आदि से विशेष हो गया और महाकवि कालिदास ने उनका अपने अनेक ग्रंथों में कई बार उल्लेख किया और अपने 'मेघदूत' में तो यक्ष को ही नायक भी बनाया। एक ज़माने में तो ऐसा भी विश्वास लोगों का हुआ कि यक्ष भी भूत, चुड़ैल, पिशाच की तरह लगते हैं; और उनके निवारण के लिये अनेक विधियाँ और क्रियाएँ प्रयुक्त होती थीं। मौर्य-काल में यक्षों की मूर्तियाँ पूजी जाती थीं और विशालकाय यक्ष और यक्षिणियों की अनेक मूर्तियाँ आज हमें प्राप्त हैं। इनमें प्रसिद्ध पारखम यक्ष और मनसा देवी की हैं। विशाल उनकी आकृति है, बनावट रूखी और खुरदरी, उन मूर्तियों और शिल्प की वस्तुओं से बिल्कुल भिन्न, जो मौर्य-काल, विशेषतः अशोक-काल की गौरव हैं। जिन यक्ष-मूर्तियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे मौर्य युग से कुछ ही पहले की हैं, शायद नन्द युग की और वही केवल पत्थर की प्राचीन मूर्तियाँ हमारे देश में सिन्धु सभ्यता के बाद की हैं।

राजकीय मूर्ति-कला से हमारा मतलब उन अत्यन्त सुन्दर और सुघड़, सजीव, चिकनी और पालिश की हुई अशोक की बनवाई मूर्तियों से है, जो राजकीय इसलिए कहलाती हैं कि उनमें ग़ज़ब का निखार है, उन पर अद्भुत पालिश है, और कि अशोक ने ही उनको बनवाकर खड़ा किया था। वे इतनी सुन्दर और सजीव हैं और उनमें और पुराने यक्षों की मूर्तियों में इतना अन्तर है कि हम उनको किसी प्रकार भोंडी यक्ष-मूर्तियों से विकसित नहीं मान सकते। वे अवश्य उन ईरानी स्तम्भों और उनके मस्तक पर बनी जानवरों की मूर्तियों से प्रभावित हैं, जिनके ऊपर अशोक की कला की-सी पालिश चढ़ी हुई है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अशोक से सौ वर्ष ही पहले पंजाब और सीमाप्रान्त पर ईरानियों का राज रहा था। और उस प्रदेश में स्वयं अशोक ने भी अपने स्तम्भों और चट्टानों की लिखावट में ईरानी भाषा और लिपि का

ही इस्तेमाल किया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अशोक के भारतीय कलाकारों ने अपने स्तम्भों और उन पर बैठी मूरतों को ईरानी माडलों से भी सुन्दर बना दिया। उन्हें साँचे में ढाल-सा दिया। हाँ, यह बात न भूलनी चाहिए कि यद्यपि भारतीयों ने ईरानियों के तरीक़े इख़्तयार किये पर उन मूरतों को गढ़ने वाले स्वयं भारतीय ही थे, जिससे वे अपनी बनाई कला में देशी प्राण फूँक सके। उन्होंने चुनार के पत्थर को विशाल पचास-पचास फुट ऊँचे स्तम्भों में बदल दिया। उन पर सजीव-सी जानवरों की मूरतें बैठा दीं और यह समूचा स्तम्भ अपने पशु-मस्तकों सहित एक ही पत्थर का बना था। इन्हीं स्तम्भों में से एक सारनाथ वाले पर जो सिंहों की मूर्ति है, वही हमारे राष्ट्रीय-झंडे के बीच का चक्र है जो बुद्ध की शान्ति की भावना को भी प्रगट करता है। बुद्ध और अशोक दोनों हमारी संस्कृति की शान्ति-परम्परा के निर्माता हैं। और उनकी याद हमारे राष्ट्र की नीति में निश्चय कल्याणकारी होगी। इन एक ही पत्थर के पचास-पचास फुट ऊँचे, चालीस-चालीस टन भारी स्तम्भों को हज़ार-हज़ार मील दूर दक्षिण में नदियाँ, जंगल और पहाड़ लाँघ कैसे ले गये, यह आज के इञ्जिनियरों के लिये भी एक समस्या है। उस काल अशोक ने आजीवक साधुओं के लिए गया के पास बराबर की पहाड़ियों में जो गुफाएँ खुदवाईं, उनकी दीवारें भी इन्हीं स्तम्भों की तरह दर्पण-सी चिकनी हैं। अशोक की इन कृतियों से भारत की उस समय की कला का परिचय मिलता है।

मिट्टी की भी उस काल छोटी-छोटी मूरतें बनीं, जिनको ठीकरे कहते हैं। एक तरफ वे सपाट चिपटी हैं, दूसरी तरफ यानी सामने की ओर उभरी हुई शक्लों को लिये हुए हैं। ये साँचों में ढली हैं। ऐसी भी मूर्तियाँ हज़ारों की तादाद में मिली हैं जो हाथ से बना ली जाती थीं। और अधिकतर घरों में खेलने या पूजने के काम आती थीं। बहुत से जानवरों और चिड़ियों के खिलौने भी उसी प्रकार पकाई मिट्टी

के बने हैं। सांचे में ढले ठीकरे बड़े सुन्दर हैं। और अधिकतर स्त्रियों की शक्लें प्रदर्शित करते हैं। स्त्रियाँ नीचे से ऊपर तक वस्त्रों से ढकी हैं। नीचे फैला हुआ घघरा है, ऊपर चोली और बाल अनेक प्रकार से बनाए हुए हैं। जहाँ अशोक की पत्थर की मूर्तियाँ ईरानी कला के योग से बनी हैं, वहाँ हमारी साँचे में ढली ये मिट्टी की मूरतें सभी प्रकार से देशी हैं और साथ ही एक से एक सुन्दर।

दसवाँ अध्याय

शुंग और सातवाहन संस्कृति

हिन्दू-समाज का पुनरुद्धार

अशोक के बाद के मौर्य राजा बड़े कमज़ोर हुए। उसका नतीजा यह हुआ कि सिकन्दर के हमले के बाद जो ग्रीकों के राज भारत के उत्तरी पड़ोस में खड़े हो गए थे, उन्होंने हमारे देश पर हमला करना शुरू कर दिया। जनता भी बहुत-कुछ बौद्ध और जैन-धर्मों के प्रभाव से युद्ध की ओर से इतनी उदासीन हो गई थी कि वह उन हमलों के खिलाफ़ खड़ी न हो सकी और एकाध हमले तो भारत के हृदय और मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र तक जा पहुँचे, जिनसे देश की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में उथल-पुथल मच गई। तब मौर्यों के अन्तिम राजा बृहद्रथ के पुरोहित और सेनापति, शुंग-वंश के ब्राह्मण पुष्यमित्र ने राजा को मार कर मगध में ब्राह्मण-साम्राज्य की प्रतिष्ठा की। उसके बाद, एक के बाद एक, दो ब्राह्मण-राजकुलों ने राज किया। एक शुंगों के बाद कण्वों ने, दूसरा बस थोड़े वक्त के लिए, दक्षिण के सातवाहनों ने।

समाज और धर्म

पुष्यमित्र शुंग ने महर्षि पतंजलि की सहायता से समाज का संगठन फिर से शुरू किया। उसने अशोक के बन्द किए हिंसा वाले यज्ञों को फिर से चलाया और हिन्दू कर्मकाण्ड लौटा। पाली की जगह संस्कृत राजभाषा हुई और साहित्य भी फिर बड़े ज़ोर से संस्कृत में लिखा जाने लगा। पुष्यमित्र ने अपने लेख संस्कृत में ही लिखवाए और दो-दो

अश्वमेध कर न केवल यज्ञों की प्रतिष्ठा की, बल्कि विदेशियों को भी देश से बाहर निकाल दिया।

समाज और धर्म के क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था वाला प्राचीन हिन्दू दृष्टिकोण फिर से संगठित कर लिया गया। पिछले धर्म-सूत्र उसी काल बने और धर्म-शास्त्रों में सबसे प्राचीन और महत्व की मनुस्मृति तभी लिखी गई। ब्राह्मण उसमें देवता माना गया, वर्ण को महत्व दिया गया और शूद्रों के विरुद्ध नियम और कठोर कर लिये गए। आचार, जिसके टूट जाने का उल्लेख गार्गी-संहिता के युग-पुराण में हुआ है, मनुस्मृति में फिर से प्रतिष्ठित किया गया। जो लोग शास्त्र-विरोधी और वर्णाश्रम-विरोधी आचरण के दोषी पाए गए, उनको वर्णच्युत कर दिया गया और ऐसे गिरे हुए या तो शूद्र मान लिए गए या अछूत। अछूतों और वर्णसंकरों की अनेक जातियों की लम्बी तालिका मनुस्मृति में दी हुई है।

साहित्य

मनुस्मृति के अतिरिक्त साहित्य में अनेक और ग्रंथ प्रस्तुत हुए। भगवद्गीता भी सम्भवतः तभी लिख कर महाभारत में जोड़ दी गई। गीता का हिन्दू जनता पर तब से आज तक कितना गहरा प्रभाव है, यह कहना न होगा। ज्ञान के क्षेत्र में गीता का वही स्थान है, जो मनुस्मृति का समाज के संगठन में है। तभी महर्षि पतंजलि ने पाणिनि के व्याकरण पर अपनी प्रसिद्ध व्याख्या 'महाभाष्य' के नाम से लिखी। उनसे कुछ ही पहले कात्यायन हुए थे, जिन्होंने पाणिनि के उसी ग्रंथ पर अपने स्वतंत्र वार्तिक लिखे थे और अनेक स्थलों पर व्याकरण की पुरानी कमी को सुधारने का प्रयत्न किया था। परन्तु पतंजलि के महाभाष्य ने तो असाधारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उद्घाटन किया और उनका 'महाभाष्य' भारत की महानतम कृतियों में माना जाता है। सम्भवतः योग-सूत्र भी तभी रचे गए। योग-दर्शन के रचयिता महर्षि पतंजलि माने जाते हैं, पर कुछ पंडित यह नहीं मानते कि महाभाष्य और योग-सूत्रों के बनाने वाले एक ही पतंजलि हैं। हमारा विश्वास है कि पुष्यमित्र

शुंग के गुरु पतंजलि ही, जिन्होंने उसका अश्वमेध कराया था (जसा उनके एक उदाहरण से प्रकट है—इह पुष्यमित्रं याजयामः), दोनों के लिखने वाले थे। उस काल का एक और दर्शन-ग्रंथ भिक्षु नागसेन ने लिखा। नागसेन बौद्ध था और स्यालकोट के ग्रीक राजा मिनान्दर का गुरु था। मिनान्दर बौद्ध हो गया था और बौद्धों के भड़काने से वह पुष्यमित्र पर चढ़ भी आया था। पर गंगा की घाटी में जो दोनों में लड़ाई हुई तो ग्रीक राजा मारा गया और उसकी राजधानी साकल या स्यालकोट पर पुष्यमित्र ने अधिकार कर लिया। नागसेन ने मिनान्दर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए पाली में जो अपना ग्रंथ 'मीलिन्द-पञ्ह' लिखा, वह बौद्धों के क्षणिकवाद वाले सिद्धान्त पर शायद पहला दर्शन था।

कला

पुष्यमित्र शुंग ने पहले तो बौद्धों को दबाया, जिसका कारण स्वयं बौद्धों का उसके विरुद्ध विद्रोही आचरण था, पर बाद में वह उनके प्रति भी सरल हो गया। बौद्ध घराने के अशोक के वंशज बृहद्रथ को उसने मार कर जो गद्दी छीन ली थी और बौद्ध-धर्म को दबाकर ब्राह्मण धर्म, पुरोहिताई और भाषा को आदर दिया था, इससे वे अपने विहारों और मठों में उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करने लगे थे। उसी षड्यंत्र का यह परिणाम हुआ कि विदेशी और विजातीय मिनान्दर ने पुष्यमित्र पर हमला किया था। इससे उस काल की राजनीति में स्वदेश से द्रोह करने वाले बौद्धों के खिलाफ़ जो पुष्यमित्र का कोप जगा तो उसने पाटलिपुत्र से जलन्धर तक के सारे बौद्ध-विहार जला डाले और मिनान्दर की राजधानी साकल (पंजाब में स्यालकोट) में ऐलान किया कि जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा, उसको मैं सोने के सौ दीनार दूँगा—"यो मे श्रमण-शिरं दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।" निश्चय पुष्यमित्र शुंग का यह आचरण इस देश की संस्कृति के विरुद्ध था परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उसे बौद्धों के आचरण ने ही आवश्यक कर दिया था। पर

अपना यह बर्ताव उस राजा ने तुरंत बौद्धों के सही राह पर आ जाने पर बदल दिया और इसी से उसके शासन-काल में जो बौद्ध-कला की इतनी उन्नति हुई, वह सम्भव हो सकी। शुंगकालीन बौद्ध-कला को समझने के लिए इस राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को समझ लेना जरूरी था।

शुंग काल की कला भारत की ही नहीं संसार की मूर्ति और वास्तु-कला में अपना ऊँचा स्थान रखती है। उसी काल मौर्य-काल के भरहुत और साँची के स्तूपों के चारों ओर पत्थर की वेष्टनी या रेलिंग दौड़ाई गई। उन रेलिंगों पर जो मूरतें उभार कर बनाई गई हैं, वे संसार की कला की आकर्षक विभूति हैं। यक्षों और यक्षिणियों की भावमयी प्रसन्न मूरतें सजीव-सी उन रेलिंगों पर उतर पड़ी हैं। पशुओं, पक्षियों और जीव-जन्तुओं की एक से एक अभिराम मूरतें उस काल के कलाकारों ने सिरजी हैं। जीवन जैसे पत्थर में लहरा उठा है। और जीवन जो केवल बौद्धों का नहीं है, साधारण जनता का है, गृहस्थों का। रेलिंगों के द्वारों पर ऊँचे तोरण बने हुए हैं जिनकी एक के ऊपर एक चढ़ी पट्टिकाओं और द्वार के बाजुओं पर एक से एक सुन्दर शक्लें बनी हैं। जलूस, पूजा के दृश्य, मनुष्यों और जानवरों की भीड़, ऐसे लगते हैं कि जैसे निर्जीव पत्थर से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। बुद्ध की मूर्ति अभी नहीं बनी थी और उनकी उपस्थिति तब अनेक प्रतीकों द्वारा दिखाई जाती थी, जैसे छत्र, पदचिह्न, बोधिवृक्ष, पगड़ी आदि से। पत्थर में कटाव का यह सुन्दर काम पास की ही विदिशा नगरी के हाथी-दाँत का काम करने वाले कलावन्तों ने किया था। विदिशा पुष्यमित्र शुंग के ब्राह्मण घराने की पुरानी ज़मींदारी थी, उसी के राज में पड़ती थी और वहाँ उसका बेटा अग्निमित्र प्रान्तीय शासक या राजा भी था। प्रकट है कि बौद्ध-धर्म का विषय होने पर भी विदिशा के कारीगरों को पुष्यमित्र ने वह कला का कार्य पूरा करने दिया। उस काल की अनेक पत्थर की मूरतें, रेलिंग आदि के टुकड़े मथुरा और कौशाम्बी में भी मिले हैं। हिन्दू देवताओं की

मूर्तियाँ भी तब की मिली हैं यद्यपि उनकी संख्या बौद्ध-मूर्तियों से कम है। बलराम की एक हलधारी शेषनाग के फणों के नीचे खड़ी मूर्ति लखनऊ के अजायबघर में रखी है।

मिट्टी की मूरतें तो शुंग काल में शायद लाखों की संख्या में बनीं, जिनमें हज़ारों हमारे देश के अजायब-घरों में रखी हुई हैं। मौर्य-काल के ठीकरे अब और सुन्दर बन चले थे और उनमें अब केवल नारी की मूर्ति ही नहीं प्रदर्शित की जाती थी। जीवन के सभी रूप—नाच-गान, आहार आदि—उनमें दिखाए गए हैं। कुछ तो बैलगाड़ी की शक्लों के ठीकरे कौशाम्बी से मिले हैं, जिनमें पिकनिक के दृश्य बने हैं, आहार के लिए फल आदि रखे हैं। वहाँ के एक प्रसिद्ध ठीकरे पर कौशाम्बी के राजा उदयन का चित्र बना है, जो उसे क़ैद करने वाले उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत की लड़की वासवदत्ता को हाथी पर चढ़ा कर ले भागा था। वह समूचा दृश्य उस ठीकरे पर ग़ज़ब की ख़ूबसूरती और सफ़ाई से बनाया गया है। लोग इन ठीकरों को आज की तस्वीरों की भाँति दीवारों पर लटकाया करते थे। उस काल खिलौनों की भरमार थी और इतनी संख्या, प्रकार और सौन्दर्य में अचरज भरे खिलौने बने कि आज के वैज्ञानिक युग में भी वैसे हमारे बच्चों को नसीब नहीं हैं। सुन्दर से सुन्दर जानवर, पक्षी और जल-जन्तु अपनी समूची आकृति में गोल ढाले गए। इनमें सबसे सुन्दर मगर और मिट्टी की गाड़ी में जुते, या लड़ने वाले, बलवान मेढ़े हैं। उनके अंग-प्रत्यंग भरपूर कौशल से साँचे में ढाल दिए गए हैं। गाड़ियों या रथों के सामने के उठे हुए भाग पर गाड़ी खींचते हुए बैलों की भी आकृतियाँ उभारी गई हैं। मिट्टी की मूर्तियाँ विशेषकर मथुरा और कौशाम्बी में मिली हैं। कौशाम्बी, भीटा आदि उस काल शुंग-कला के केन्द्र थे।

शुंग-कला का उल्लेख करते समय उन गुफाओं की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है, जो तब पहाड़ की चट्टानों में खोदी गई थीं। उड़ीसा के उदयगिरि, खण्डगिरि आदि में, दक्षिण में

भाजा, कार्ले आदि में अनेक गुफाएँ खोद कर बौद्धों ने उनमें अपनी पूजा के लिए चैत्य-मन्दिर बनवाए। अजन्ता की आरंभ की अनेक गुफाएँ उसी काल खोदी गईं और उनकी दीवारों के कुछ चित्र भी तभी के हैं, जो शुंग-काल की दो सींगों वाली अपनी पगड़ी से आसानी से पहचाने जा सकते हैं।

सातवाहन-युग

आन्ध्र-सातवाहनों का राजकुल भी ब्राह्मण ही था। वे अधिकतर शुंगों के बाद हुए और कृष्णा नदी के कांठे से उठकर दक्षिण में समुद्र से समुद्र तक अपना साम्राज्य उन्होंने खड़ा किया था। और एक बार जब शुंगों के उत्तराधिकारी कण्वों की शक्ति मगध में कमज़ोर पड़ी तो सातवाहनों ने मगध पर भी कुछ काल के लिए अधिकार कर लिया। उनका संघर्ष विदेशी शकों और आभीरों के साथ हुआ, फिर आभीरों का साम्राज्य सातवाहनों के टूटे साम्राज्य पर खड़ा हुआ। सातवाहन ब्राह्मण-धर्म के उन्नायक थे और अपने को परशुराम की भाँति क्षत्रियों के मान और दर्प का दलन करने वाले मानते थे। ऐसा उन्होंने अपने लेखों में लिखवाया है, परन्तु उनके लेख संस्कृत में नहीं, प्राकृत में हैं।

धर्म

सातवाहनों के लेखों से तब के समाज की स्थिति पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। सातवाहन राजा ब्राह्मण होते हुए भी किसी के विश्वास में बाधक नहीं होते थे। और इसी से उनके साम्राज्य में ब्राह्मण-धर्म के साथ-साथ बौद्ध-धर्म भी फूला-फला। उनके लेखों से जान पड़ता है कि बौद्ध-भिक्षुओं के लिए, चैत्य-मन्दिर और गुफाएँ बनवाने और उनके खर्च के लिए धनी उपासक धन जमा कर देते थे। तब व्यापारियों की श्रेणी या संघ बैंक का काम करते थे, और धन उन्हीं के यहाँ जमा कर दिया जाता था। उसी मूलधन के ब्याज से भिक्षुओं का खर्च चलता था। अनेक प्रकार के यज्ञ प्रचलित थे, जिनमें पुरोहितों को काफ़ी दक्षिणा मिलती थी। राजा अश्वमेध, राजसूय आदि का अनुष्ठान करते

थे और शिव, कृष्ण आदि की पूजा होती थी। हिन्दू-धर्म इतना उदार था कि उसमें यवनों या ग्रीकों तक को स्थान मिला। कार्ले की गुफा के एक लेख से विदित होता है कि दो यवन अपने नाम बदल कर हिन्दू हो गए थे। इनके नए नाम थे—सिंहध्वज और धर्म। इसी प्रकार पिछले शुंग-काल में ग्रीक राजा अन्तलिखित का ग्रीक दूत हेलियोदोर भी भागवत यानी विष्णु का पूजक हो गया था। उसने वेसनगर में पहला विष्णु का स्तम्भ खड़ा किया। सातवाहनों के समकालीन शक उषवदात्त (ऋषभदत्त) ने भी हिन्दू नाम धारण किया था और वह ब्राह्मण-धर्म का कट्टर भक्त था।

समाज

समाज में अनेक वर्ग थे। सबसे ऊपर वाले शासक, राज के पदाधिकारी, मंत्री, सामन्त आदि थे। दूसरे वर्ग में धनी, व्यापारी आदि। सौदागर-सेठ सभी उसी में शामिल थे। इनके अतिरिक्त समाज में वैद्य, लेखक, सुनार, गन्धी, किसान, माली, बढ़ई, लुहार, मछलीमार सभी थे।

आर्थिक-स्थिति

सातवाहनों के लेखों से आर्थिक-स्थिति का जो पता चलता है, उसमें से श्रेणियों की ओर संकेत ऊपर किया जा चुका है। एक ही वस्तु के व्यापारी अपने-अपने संघ या श्रेणी बना लेते थे। कुम्हार, तेली, जुलाहों आदि की अपनी-अपनी श्रेणियाँ थीं, जो उस काल बैंक का काम करती थीं मूलधन को अक्षयनिधि कहते थे, क्योंकि उसको छुआ नहीं जाता था। उसके ब्याज से ही बताए हुए काम का इन्तजाम होता था। सौदागर नैगम कहलाते थे, जो निगम या सौदागरों की समिति के सदस्य भी होते थे। कारवाँ और व्यापारियों के प्रधान को सार्थवाह कहते थे। श्रेणी का प्रधान श्रेष्ठी (सेठ) कहलाता था। चाँदी और ताँबे के सिक्के कार्षापण और सोने के सुवर्ण कहलाते थे। ३५ कार्षापणों का एक सुवर्ण होता था। पश्चिमी देशों के साथ व्यापार बड़े ज़ोरों से होता था और भड़ोच, सोपारा और कल्याण, उस काल के बड़े चलते हुए बन्दरगाह थे। बीच

देश में तगर, पैठन ग्रोर उज्जयिनी व्यापार के बड़े केन्द्र थे। सातबाहन-काल के ही बीच किसी अज्ञात नामा ग्रीक ने वह व्यापार-सम्बन्धी अद्‌भुत पुस्तक लिखी, जिसका अंग्रेज़ी में नाम है 'पेरिप्लस ऑफ़ दि इरिथियन सी' और जिसमें भारत से बाहर जाने वाली तथा बाहर से भारत आने वाली बिक्री की चीज़ों की तालिका दी हुई है।

साहित्य

ऊपर कहा जा चुका है कि सातवाहन राजाओं ने संस्कृत की जगह अपनी बोल-चाल की भाषा प्राकृत को बढ़ाया और उसे राजभाषा का पद दिया। सातवाहन राजा हाल ने प्राकृत में ही अपनी वह सौ, पदों वाली 'गाथा-सप्तसती' (गाथा-सतसई) लिखी जो अत्यन्त सुन्दर काव्य है और जिसका हिन्दी के कवि बिहारी की 'सतसई' पर काफ़ी असर पड़ा था। गुणाढ्य ने भी तभी प्राकृत में अपनी 'वृहत्कथा' लिखी। उसी काल सर्ववर्मन् ने एक आन्ध्र राजा के लिए प्राकृत में ही 'कातन्त्र' नाम का व्याकरण लिखा क्योंकि वह राजा संस्कृत नहीं जानता था और पाणिनि का व्याकरण उसके लिए बहुत कठिन पड़ता था।

ग्यारहवाँ अध्याय

भारत की नई संस्कृति

नई संस्कृति से तात्पर्य है उस संस्कृति का जो बाहर की संस्कृतियों के संयोग से बनी। जब-जब दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे से टकराती या मिलती हैं तब-तब दोनों में परिवर्त्तन होता है। दोनों एक-दूसरी से कुछ लेती हैं, दोनों एक-दूसरी को कुछ देती हैं। जिस संस्कृति में दूसरी संस्कृति को लेकर पचा जाने की जितनी ही शक्ति होती है, उतनी ही वह संस्कृति महान् होती है। जब-जब बाहरी संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध हुआ है, तब-तब यह संस्कृति विशेष सुन्दरता में चमकी है। आर्यों ने, ईरानियों ने और आगे ग्रीकों, शकों और कुषाणों ने हिन्दू-काल में उसे अपनी ताज़गी और विविधता दी, जिससे भारतीय संस्कृति का यह बहुमुखी रूप बना।

आर्य, ईरानी और सिकन्दर के हमलों का ज़िक्र हम पहले कर आये हैं। पर मौर्यों के बाद जिस युग का भारतीय इतिहास में आरम्भ होता है, वह युग विशेषत: हम लोगों का है। एक के बाद एक अनेक जातियों और उन जातियों की भी अनेक-अनेक धाराएँ इस भूमि पर टूटतीं और उसे सांस्कृति रूप से उस काल उपजाऊ बनाती रहीं। पहले ग्रीक आये, फिर शक, गुर्जर और आभीर और अन्त में कुषाण। इस प्रकार दूसरी सदी ई० पू० से लेकर तीसरी सदी ई० तक के प्राय: ४०० वर्ष विदेशी संस्कृतियाँ इस देश में विदेशी शक्ति-स्थापना के साथ ही फैलीं। उन्होंने एक ज़माने तक इस देश पर शासन किया और चूँकि वे जातियाँ इस देश से लौट जाने के लिये नहीं आई थीं, अपना सब कुछ देकर वे यहीं

की जातियों में घुल-मिल गईं। इस देश में उन्होंने लड़ाइयाँ कीं। जीतीं, और हारीं और अन्त में यद्यपि उनकी शक्ति यहाँ टूट गई, वे अपने जाति-रूप में यहीं बनी रहीं और आज उनको जातियों की इस बहती धारा में पहचान सकना कठिन है।

ग्रीक

आमू दरिया के काँठे से पामीरों की छाया से निकलकर ग्रीक दिमित्रिय ने देश पर हमला किया और सिन्ध और चित्तौड़ की राह स्वयं, तथा उसका दामाद मिनान्दर मथुरा और साकेत की राह, पाटलिपुत्र तक जा पहुँचे और सारे मध्य-देश को जीत लिया। उसी समय यूक्रेतिद ने जब उसकी पीठ पीछे स्वदेश में उसकी गद्दी ले ली, तब दिमित्रिय को तेज़ी से पीछे हटना पड़ा। पर जो वह शत्रु को हरा न सका तो उसे इस देश में ही बस जाना पड़ा। उसने इस देश के इतने प्रान्त जीते थे कि उसे ग्रीक और रोमन इतिहासकार 'भारत का राजा' कहने लगे। दिमित्रिय ने सिन्ध और पंजाब के एक भाग पर अपना अधिकार बनाए रखा और मिनान्दर ने पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश पर। पश्चिमी पंजाब, गान्धार, सीमाप्रान्त और काबुल की घाटी पर यूक्रेतिद का अधिकार बना रहा। इस प्रकार मध्य एशिया तो क्या यूरोप के पूर्वी भाग से लेकर उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी भाग तक ग्रीकों के शासन और संस्कृति के कब्जे में था और किसी न किसी अंश में प्रायः दो-सौ वर्ष बना रहा। इस लम्बे अरसे में ग्रीकों ने अपने अनेक स्वतंत्र नगर बसाए, जैसे यूथिदेमिया और दत्तामित्री और अनेक नगरों में उनके अपने अलग मुहल्ले बस गए, जैसे पत्तल में, तक्षशिला और साकल में। साकल तो मिनान्दर की राजधानी भी थी। इन नगरों में ग्रीकों ने अपने खेल खेले, अपने साहित्य लिखे-पढ़े, अपने नाटक खेले, अपनी कला सँवारी, और धीरे-धीरे जब वे यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हो चले, तब उन्होंने अपनी कला की शैली यहाँ की कथाओं को पत्थर में रूप देने में लगाई।

साथ ही उन्होंने यहाँ की संस्कृति को अनेक दिशाओं से प्रभावित और विकसित किया।

साहित्य

साहित्य पर उनका सीधा प्रभाव तो दिखाई नहीं पड़ता पर संस्कृत के रंग-मंच पर शायद उनका कुछ प्रभाव पड़ा। रंगमंच के पर्दे के लिये 'यवनिका' शब्द ग्रीकों से ही लिया गया है। इसी से उसमें ग्रीक अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'यवन' शब्द की ध्वनि है। इस देश के रंगमंच पर पर्दे का व्यवहार न था। इसलिए ग्रीकों की देखा-देखी जो पर्दे का इस्तेमाल हुआ तो उस दिशा से आए उस पर्दे की सूचना भी इस रूप में दे दी गई। स्वयं 'यवन' शब्द का इस्तेमाल इस देश की भाषाओं में उसी आधार से उठा। भारतीय, ग्रीकों को ग्रीस से लगे हुए आयोनिया का निवासी मानते थे। इसलिए आयोनियनों को वे 'यवन' कहने लगे जो बाद में सभी विदेशियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत नाटक में 'कामेडी' न थी। उसका प्रायः ग्रीक अर्थ में निकटतम रूप 'मृच्छकटिक' में बना है। मृच्छकटिक नाटक तीसरी सदी ई० का लिखा हुआ है। कुछ आश्चर्य नहीं कि वह ग्रीकों की प्रसन्न नाटकीयता से प्रभावित हुआ हो। इतने बड़े भूखण्ड के ग्रीकों के अधिकार में दीर्घकाल तक रहने से यह सहज ही माना जा सकता है कि ग्रीक भाषा भी उनके अधिकार के प्रान्तों में समझी जाती रही होगी। उनके सिक्कों पर लिखी दो भाषाओं में एक ग्रीक भी है। उनकी भाषा 'यवनानी' कहलाती थी।

ज्योतिष

ग्रीकों का गहरा प्रभाव विज्ञान पर पड़ा और विशषकर ज्योतिष पर। गार्गी-संहिता में लिखा है कि यद्यपि यवन मलेच्छ हैं पर ज्योतिष के आचार्य होने के कारण वे ऋषियों की भाँति पूज्य हैं। ग्रीक ज्योतिष के अनेक शब्द संस्कृत में आए। हमारी संस्कृत में जन्मपत्री के लिए कोई अपना शब्द नहीं है। ग्रीक शब्द 'होरा' का ही संस्कृत 'होरा-चक्र' में व्यवहार होता है। जो 'जामित्र' लग्न विवाह के लिए इतना शुभ माना

जाता है, उसका मूल ग्रीक 'दायामेत्रान्' है। इसी प्रकार उस विज्ञान में ग्रीकों का राशिचक्र ज्यों का त्यों ले लिया गया। बराहमिहिर ने बाद में चलकर जिन पाँच सिद्धान्तों का वर्णन किया, उनमें से कम से कम समूचे दो ग्रीक हैं। उनके नाम हैं—रोमक और पौलिश सिद्धान्त।

धर्म

धार्मिक क्षेत्र में भारतीय धर्मों ने ग्रीकों को विशेष आकृष्ट किया। अधिकतर ग्रीकों ने यहाँ के धर्म और विश्वास स्वीकार कर लिए। जनता तो बड़ी संख्या में हिन्दू देवताओं को पूजने लगी। अनेक प्रसिद्ध ग्रीकों ने भी उन धर्मों की शरण ली। साकल के ग्रीक राजा मिनान्दर ने किस प्रकार बौद्ध होकर नागसेन से प्रश्न किए और कैसे उनके उत्तरों के रूप में पाली में 'मिलिन्द पञ्ह' लिखा गया, उसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। वैसे ही दीय के पुत्र हेलियोदोर का भी जिसने विष्णु के लिए बेसनगर में स्तम्भ खड़ा किया और उसके लेख में अपने को 'भागवत' कहा। स्वात से मिले एक कलश पर खुदे लेख से पता चलता है कि थियोदोर नाम के एक ग्रीक ने बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया था। सातवाहनों का ज़िक्र करते हुए पहले बताया जा चुका है कि कैसे दो यवनों ने हिन्दू-धर्म स्वीकार कर सिंहध्वज और धर्म नाम रख लिए थे। वैष्णव-भक्ति का जो प्रचार हो रहा था, उसका यह सहज ही परिणाम था। काफ़ी पहले पाणिनि ने भी वासुदेव की पूजा का उल्लेख किया है और अब उस धर्म के प्रचार का सब से पहला सबूत ग्रीक हेलियोदोर ने अपने स्तम्भ-लेख द्वारा दिया। बौद्ध-धर्म के प्रचार से जो ऊँच-नीच की व्यवस्था कम हो चली थी, उसने वैष्णव-भक्ति को भी प्रभावित किया और उसने भी बौद्धों की ही भाँति विदेशियों और विजातियों के लिए अपने द्वार खोल दिए।

कला

ग्रीकों का सब से गहरा प्रभाव भारतीय संस्कृति पर कला के क्षेत्र में पड़ा। अफ़गानिस्तान और पश्चिमी पंजाब में मूर्त्ति-कला में और भवन-निर्माण में उस काल एक नए तरीके का आरम्भ हुआ जो ग्रीक-

शैली का था। उसका उदय गन्धार प्रान्त में हुआ इसलिए वह गन्धार-शैली कहलाई। उस शैली का चरम विकास तो कुषाणों के समय पहली सदी ई० में हुआ पर उसका आरम्भ निश्चय ग्रीकों के संयोग के समय काफ़ी पहले हो चुका था। उस शैली में बुद्ध और बौद्ध-धर्म की कथाएँ पत्थर के ऊपर उभार कर ग्रीक तरीके से खोदी गईं, यानी उसका विषय तो बौद्ध था पर उसे बनाया ग्रीक कलाकारों ने। इसी से उस कला की शक्लें बिल्कुल यूरोपीय लगती हैं और उन पर नज़र डालते ही कहा जा सकता है कि उनका रूप भारतीय नहीं, ग्रीक है। इसी गन्धार-शैली में पहले-पहल बुद्ध की मूर्त्ति बनी, वरना उसके पहले बुद्ध की उपस्थिति धर्म का चक्कर घुमाते हुए उनके हाथों से, पैरों, पगड़ी, बोधि-वृक्ष आदि की आकृति द्वारा बताई जाती थी। इस काल के बाद अब बुद्ध की समूची खड़ी मूर्त्ति भी बनने लगी।

मुद्रा और व्यापार

मुद्रा या सिक्कों का सही-सही इस देश में पहले-पहल इस्तेमाल ग्रीकों ने ही किया। उसके पहले चिह्न टाँके हुए सिक्के चलते थे, ढाले हुए नहीं। ग्रीकों ने ढाले हुए सिक्के चलाए। उनको गोल, समान आकार और तौल दिया। उनको वे लोग 'द्रख़्म' कहते थे। बाद में वह 'द्रम्म' कहलाने लगा जिससे हिन्दी का 'दाम' शब्द निकला।

ग्रीकों के तब सारे मध्य और पश्चिमी एशिया के स्वामी होने के कारण यहाँ से यूरोप तक की व्यापार की राह खुल गई। सिक्कों का एक ही मान-तोल हो जाने से दूर के विदेशों से व्यापार करने में बड़ी आसानी हो गई। दूसरी सदी ई० पू० में अन्तिओकस् चतुर्थ ने दाफ़्ने नामक स्थान पर भारत की बनी हाथीदाँत की वस्तुओं और गरम मसालों का एक बहुत बड़ा प्रदर्शन किया था। इसी प्रकार तालेमी द्वितीय ने भी मिस्र में अपनी विजयों के प्रदर्शन में भारतीय कुत्तों और मवेशियों को दिखाया था। पहले अज्ञातनामा ग्रीक की व्यापार-सम्बन्धी उस पुस्तक की ओर संकेत किया जा चुका है, जिसमें भारत के विदेशों के साथ व्यापार

की वस्तुओं की सूची दी हुई है। उसमें उसने उन यवनियों का भी ज़िक्र किया है, जो खरीद की जाती थीं और अनेक बार दासी की अवस्था से उठकर श्रीमानों की पत्नियाँ भी बन जाती थीं। राजा लोग तो अधिकतर उन्हें अपने पास रखते थे और अपने साथ आखेट के लिये उन्हें ले जाते थे। संस्कृत नाटकों में राजाओं के अस्त्र-शस्त्र यवनियाँ ही रखती थीं। अर्थशास्त्र में कौटिल्य (चाणक्य) ने लिखा है कि राजा के लिये प्रातः उठते समय यवनियों से घिरा होना और उनका मुँह देखकर उठना शुभ होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने स्वयं ग्रीक कुमारी से विवाह किया था। राजाओं के अन्तःपुर की रक्षा ज़्यादातर इन्हीं यवनियों के हाथ में रहती थी। इनकी अपनी बोली थी, जिसे संस्कृत में 'यवनानी' कहा गया है। दक्षिण के पांड्य राजा अपने शरीर-रक्षक रोमनों को बनाने लगे थे और उनकी सेना में रोमन सैनिक काफी संख्या में भर्ती हो गये थे। इससे प्रकट है कि समाज पर कितना गहरा असर इनका पड़ा होगा। इसी से स्मृतियों में आचार के बन्धन और दृढ़ कर लिए गए। पर निश्चय समाज ने उन्हें पचा लिया।

शक

ग्रीकों के बाद ही गुर्जर और आभीर करीब-करीब शकों के साथ ही बाहर से आए परन्तु अभी वे देश या समाज में प्रबल नहीं हो पाए थे और उनका ज़िक्र हम पीछे करेंगे। उनसे पहले ईरान से पह्लव आए, जिन्होंने एक अरसे तक भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग पर राज किया। उनके सम्बन्ध की एक बात बड़े महत्व की यह है कि तभी शायद हिन्दुस्तान का सम्पर्क ईसाई धर्म से हुआ। पहली सदी ई० में पह्लव राजा गुदफर जब राज कर रहा था, ईसाई परम्परा का कहना है, तभी ईसा के शिष्य सन्त तोमस ने भारत में प्रवेश किया। कहानी मनोरंजक है कि जब राजा ने सन्त को मय के देश से आया हुआ जान एक महल बनवाने के विषय में राय पूछी, तब उसने उसके लिए सुन्दर महल बना देने के लिए उससे बहुत-सा धन लिया और उस धन को गरीबों में बाँट

दिया। फिर जब राजा ने उससे महल की बात पूछी तब उसने ऊपर दिखा कर कहा कि मैंने दरिद्रों में वह धन बाँट कर वहाँ स्वर्ग में महल बना दिया है। कहानी सच हो या झूठ, उस सन्त की क़ब्र आज भी मद्रास में दिखाई जाती है और उस कहानी की परम्परा ईसाई-साहित्य का गौरव है।

शकों ने इस देश की राजनीति और समाज में एक बड़ी क्रांति उत्पन्न कर दी। उनकी धारायें अटूट रूप से एक ज़माने तक आती रहीं और सदियों उन्होंने इस देश पर राज्य किया। पाँच केन्द्रों से उन्होंने हुकूमत की—सिन्ध और तक्षशिला से, मथुरा से, उज्जैन और महाराष्ट्र से। इस देश के रहने वालों से उनकी पहले बड़ी लड़ाई हुई, पीछे उनकी शक्ति तोड़ भी दी गई, पर जनता के रूप में वे यहीं खो गए। उनकी पहली बड़ी लड़ाई शायद पंजाब से अवन्ती की ओर बढ़ते हुए मालवों से हुई, जिन्होंने उन्हें वहाँ से उखाड़ कर अपना नाम 'मालवा' उस प्रदेश को दिया और उस जीत की यादगार में अपना मालव-संवत् चलाया। मालव-संवत् और विक्रम-संवत् चलाने की तिथि एक ही है, जिससे मालूम पड़ता है कि दोनों संवत् एक ही रहे होंगे और कुछ दिनों बाद मालव-संवत ही विक्रम-संवत् कहलाने लगा होगा। कुछ अजब नहीं कि मालवों के विक्रमादित्य नाम के किसी मुखिया के नाम पर वह संवत् विक्रम-संवत कहलाया हो। एक और संवत्, शक-संवत् के नाम से इस देश में चलता है, जो राष्ट्रीय विक्रम-संवत् से भी पवित्र माना जाता है और जिसका इस्तेमाल हमारे पत्रों, पंचांगों और जन्मपत्रियों में होता है। उसे चलाया तो पहली सदी ई० में कुषाणों के राजा कनिष्क ने पर बहुत दिनों तक शक राजाओं ने जो उसका प्रयोग किया तो यह संवत् शकों के नाम से ही जाना गया। यह हमारी संस्कृति की बुलन्दी है कि हमने विदेशियों के चलाए उस संवत् को सर्वथा अपना कर लिया।

शकों का दक्षिण के सातवाहनों से दीर्घकाल तक युद्ध होता रहा। कभी उन्होंने शकों के प्रांत छीन लिए, कभी शकों ने उनके। और अन्त

में महाराष्ट्र के शकों की शक्ति कुछ तो उन्होंने तोड़ दी, कुछ आभीरों ने। उत्तर में उनकी शक्ति का अन्त कुषाणों ने किया। उज्जैन के शकों से गुप्तों का भी संघर्ष चला और समुद्रगुप्त ने सीमाप्रांत के शक, मुसंडों से कर भी वसूला। पर समुद्रगुप्त के मरते ही वे फिर प्रबल हो उठे। और उन्होंने उसके बेटे रामगुप्त की ऐसी स्थिति कर दी कि उसे उन्हीं की दी हुई शर्तों पर सुलह करनी पड़ी। उस सुलह के मुताबिक वह अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकराज को देने तक को तैयार हो गया परंतु उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेष में शक-शिविर में जाकर शकराज को मार डाला। फिर भाई को हटा वह मगध की गद्दी पर बैठ गया और उसने ध्रुवदेवी से विवाह भी कर लिया। उसी का यह नतीजा हुआ कि स्मृतियों में विधवा-विवाह की व्याख्या हुई और नालायक या कापुरुष पति के रहते पत्नी का दूसरा विवाह करना जायज़ माना गया। चन्द्रगुप्त ने उज्जैन के शकों की शक्ति भरपूर तोड़ दी जिससे वह 'शकारि' कहलाया। उसने विक्रमादित्य की उपाधि भी धारण कर ली। अधिकतर जो लोग विदेशी शत्रुओं से लड़ते थे वे 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करते थे।

शकों का भारतीय संस्कृति में घुल-मिल जाना कुछ कम महत्व का विषय न था। हमारी संस्कृति का जितना हित उन्होंने किया है, उतना कम जातियों ने किया। चाँदी के बड़े-बड़े सिक्के तो ग्रीकों ने चलाए ही थे, मध्य पश्चिमी और दक्षिणी-भारत में उनका प्रचार शकों ने ही किया। और उनके बाद उन्हीं के चलाए सिक्के गुप्तों ने फिर से टाँक कर चलाए।

ज्योतिष के क्षेत्र में उन्होंने विशेष यत्न किये। उज्जैन को, जो उन्हीं के प्रयत्न से विशेषकर पश्चिमी जगत के व्यापार का केन्द्र हो गया था, अब ज्योतिष का उन्होंने केन्द्र बनाया। ग्रीकों ने अपने समय में जितना यहाँ के ज्योतिष को प्रभावित किया था, वह इसलिये बहुत न था कि अभी पश्चिमी देशों में उस क्षेत्र में खोज इतनी न हो सकी थी। जब

शक मालवा के स्वामी थे, तभी अधिकतर ग्रीकों का ज्योतिष वहाँ पनपा और उनको भारतीय पंडितों को सुलभ कराने वाले शक ही थे। उनका बनाया वह केन्द्र उज्जैन आज तक ज्योतिष का केन्द्र बना हुआ है।

सूर्य की पूजा भी इस देश में शकों ने ही चलाई। पुराणों में लिखा है कि शाम्ब ने जब सिन्ध में सूर्य का मन्दिर बनवाया, तब उसको इस देश में ब्राह्मण पुजारी न मिले। फिर उसे उस कार्य के लिए शक ब्राह्मण बुलाने पड़े। वे ब्राह्मण आज भी शाकद्वीपी ब्राह्मण कहलाते हैं। शकों की वेश-भूषा में सलवार, अचकन और घुटनों तक बूट और ईरानी पगड़ी पहने हाथ में खंजर लिए पहली सदी ई० की कुषाणकालीन सूर्य की एक मूर्त्ति मथुरा के अजायबघर में रखी हुई है, जो इस देश में उस देवता की पहली मूर्ति है। आज के हमारे राष्ट्रीय लिबास का आरम्भ यहाँ शकों ने ही किया था, जिसे मुग़लों ने सुधार कर आज का रूप दिया। पर वह वेश इस देश में तब चला नहीं।

शकों ने अधिकतर अपने लेखों में संस्कृत भाषा का ही उपयोग किया। यह बड़े महत्व की बात इसलिए है कि जहाँ उनके शत्रु सातवाहनों ने ब्राह्मण होकर भी, अपने को परशुराम का-सा 'एकब्राह्मण' कहकर भी, संस्कृत का इस्तेमाल अपने लेखों में न कर प्राकृत का किया, वहाँ शकों ने संस्कृत का किया। गिरनार वाला उज्जैन के रुद्रदामा का लेख संस्कृत-गद्य की पहली शैली प्रस्तुत करता है।

कुषाण

कुषाण आए तो थे विदेशों से, पर वे हो गए सभी प्रकार से भारतीय। शकों ने अपने को ईरानी राजाओं का प्रान्तीय शासक कहा और राजा की जगह पर 'क्षत्रप' शब्द ही इस्तेमाल किया। पर वे थे सभी प्रकार से स्वतन्त्र और उनका ईरान से कोई ताल्लुक न था। पर इस देश में पहली सदी में आने वाले कुषाणों ने अपना अधिकार पूर्वी-ईरान पर भी जमा रखा और बिहार-बंगाल तक वे जा पहुँचे। उनके सबसे महान् राजा कनिष्क ने बौद्ध-धर्म के लिए जितना किया, वह केवल

अशोक से घट कर है, उतना और किसी ने न किया। कला की भी उसने जो उन्नति की, वह बड़े महत्व की थी। उसका वर्णन हम नीचे करेंगे।

कुषाणराज कनिष्क ने भी धर्म के सम्बन्ध में काफ़ी सहिष्णुता दिखाई। उसके सिक्कों पर सारे मध्य-एशिया, ईरानी, ग्रीक, भारतीय देवताओं की आकृतियाँ बनी हुई हैं, शिव और बुद्ध तक की। चीनी सम्राट् का विरुद 'दैव-पुत्र' उसने धारण कर लिया था। दूर का चीनी तो वह था ही, क्योंकि उसकी जाति 'यूयेह्-ची' चीन से ही आई थी और उसका सम्बन्ध उस देश में किसी न किसी रूप में सदा बना रहा था, पहले शत्रु के रूप में फिर अच्छे पड़ोसी के रूप में। उसने पंजाब में चीनभुक्ति नाम की चीनियों की एक आबादी भी बसाई थी और दो चीनी राजकुमारों को जो उसने जाड़े में पंजाब में और गर्मियों में काबुल की घाटी में रखा तो उन लोगों ने इस देश में आड़ू और नाख के पौधे लगाकर इस देश को यह फल दिये। (कब चीनियों ने लीची से हमारा परिचय कराया, नहीं कहा जा सकता।)

इस प्रकार चीनी परम्परा में ही कनिष्क की धार्मिक सहिष्णुता इस देश में फल-फूल चली। कनिष्क बौद्ध तो हो ही गया था, उसने तीन साधनों से उस धर्म का बड़ा उपकार किया। पहले तो उसने बौद्ध-संघ की चौथी संगीति बुलाई, दूसरे महायान का आरम्भ कराया, तीसरे मध्य-एशिया में उस धर्म का प्रचार कराया।

धर्म

बौद्ध-धर्म अब तक बहुत जटिल हो गया था, और उसके सिद्धान्तों को समझ पाना अत्यन्त कठिन। उनके सम्बन्ध में अनेक झगड़े खड़े हो गये थे। उन झगड़ों को निपटाने और सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिये उसने अपने गुरु पार्श्व की अनुमति लेकर ५०० भिक्षुओं के महासंघ का काश्मीर में अधिवेशन कराया। बौद्ध-पंडितों की उस बैठक के सभापति वसुमित्र थे। और जब वसुमित्र न रहते तब उसकी अध्यक्षता का कार्य

प्रसिद्ध बौद्ध-कवि और दार्शनिक अश्वघोष करते। अश्वघोष अवध के रहने वाले थे, पर पाटलिपुत्र में जा बसे थे, और वहाँ से कनिष्क ने बल-पूर्वक हरण कर लिया था। उसने प्रसिद्ध महाकाव्य 'बुद्ध-चरित', और 'सौंदरानन्द' संस्कृत में लिखे। बुद्ध-चरित का प्रभाव तो कालिदास के काव्य पर भी पड़ा। अश्वघोष के एक नाटक के खंड भी तुर्किस्तान में मिले हैं। संघ की बैठक में अनेक भाष्य सम्पादित हुए। इनमें 'विभाषा-शास्त्र' मुख्य था। इन भाष्यों को ताँबे की चद्दरों पर खुदवाकर एक स्तूप में सुरक्षित कर दिया गया।

महायान

कनिष्क के काल में ही पहली सदी ई० में बौद्धों के प्रसिद्ध भक्ति-साम्प्रदाय महायान का आरम्भ हुआ। उसी काल गान्धार-कला ने बुद्ध की पहली मूर्ति बनाई, और स्वयं कनिष्क ने इतिहास में पहली बार अपने सिक्कों पर बुद्ध की खड़ी मूर्ति ढाली। उसके पहले बुद्ध की मूर्ति नहीं बनती थी। प्राचीन बौद्ध बुद्ध को केवल मानव-गुरु और आचार्य के रूप में मानते थे। उनकी प्रतिष्ठा अभी देव-पद पर न हुई थी। उन्हें अभी आराध्य मानकर पूजा नहीं जाता था। बौद्ध-धर्म के इस रूप को हीनयान कहते थे। उसमें अर्हंत केवल अपने निर्वाण के लिये प्रयत्न करता था। इससे उस स्वार्थमय रूप को 'हीनयान' यानी 'क्षुद्र-नौका' कहा गया। 'महायान' में बुद्ध के बोधिसत्व के रूप की कल्पना हुई, जिसका अर्थ था वह दयामय जीव जिसे आगे चलकर बुद्ध होना था। बोधिसत्व ने ऐलान किया कि जब तक एक प्राणी भी निर्वाण पाने से वंचित रहेगा, तब तक वह स्वयं निर्वाण-पद स्वीकार न करेगा। यही महायान था—विशाल पोत—जिस पर सभी चढ़कर भवसागर पार हो सकते थे। उसी में बुद्ध का 'बहुजनहिताय', 'बहुजनसुखाय' की अभिलाषा चरितार्थ हुई।

हीनयान सूखा सिद्धान्त-परक था और जब तक बौद्ध-धर्म विद्वानों तक सीमित था, तब तक तो उसकी प्रतिष्ठा बनी रही पर जब वह धर्म

जनता में फैल चला तब एक ऐसे देवता की आवश्यकता पड़ी, जिसको वह अपने सुख-दुःख सुना सके, अपने आपत्ति-काल में जिसकी वह शरण ले सके, और जिसके प्रति वह श्रद्धा-भक्ति का पूरा आचरण कर सके। हिन्दू-भक्ति-मार्ग में इसकी व्यवस्था थी पर बौद्ध-धर्म में न थी। जब साधारण हिन्दू-जनता ने बौद्ध-धर्म को अपनाया तब भक्ति-मार्ग में परचे होने के कारण उसे उस बड़ी कमी का बोध हुआ। महायान इस प्रकार हिंदुओं के भक्ति-मार्ग से प्रभावित होकर चला। हिंदुओं की ही भाँति उसमें भी अनेक विधिक्रियाएँ होने लगीं, बुद्ध और बोधिसत्वों की अनन्त मूर्तियाँ बन चलीं और हिन्दू देवताओं से भरा बुद्ध को केन्द्र बनाकर बौद्ध-पुराण प्रस्तुत हो गया। यह महत्त्व की बात है कि महायान का चलाने वाला बौद्ध नागार्जुन पहले ब्राह्मण था।

गान्धार-कला

गान्धार-कला का संकेत पहले किया जा चुका है। महायान के आन्दोलन से ही वह विशेष फूला-फला। गान्धार-कला ने पहली बार बुद्ध की मूर्ति बनाई। उससे पहले कला में पगड़ी, धर्मचक्र, भिक्षा-पात्र, छत्र, कमण्डलु, बोधिवृक्ष, चरणांक आदि से बुद्ध की उपस्थिति जानी जाती थी। पर अब स्वयं बुद्ध की मूर्ति बन चली और अनन्त संख्या में देश में उसका प्रचार हुआ। और चूँकि इन मूर्तियों और बौद्ध-कथाओं का निर्माण एक खास शैली में हुआ है, उस प्रदेश के नाम पर उसका नाम गान्धार-शैली पड़ा। गान्धार प्रान्त का केन्द्र पेशावर था और उसी केन्द्र से अधिकतर इस शैली का विस्तार हुआ, पश्चिम और पूर्व दोनों ओर। इस शैली में माडल या विषय तो बौद्ध लिये गए पर उनका निर्माण यवन या यूनानी कला की शैली में हुआ। यह शैली हिन्दू-ग्रीक-काल यानी प्रायः दूसरी सदी ई० पू० में शुरू होकर कुषाण काल के अन्त में प्रायः तीसरी सदी ई० तक चलती रही। इस कला का रूप विशेषकर बुद्ध की मूर्तियों के वस्त्रों की चुन्नट और उनके केश की ग्रीक-नुमा बनावट में हैं। धीरे-धीरे कुषाण काल के भारतीय कलाकारों ने

उस शैली को भारतीय रूप देना शुरू किया और कुछ ही काल बाद गुप्तकाल में वह शैली सभी प्रकार से भारतीय हो गई।

कुषाण-काल वैसे भी कला की दृष्टि से बड़ा समृद्ध काल है। क्या पत्थर, क्या मिट्टी दोनों में अनन्त कला-सम्पदा उस काल के कलाकारों ने प्रस्तुत की, एक से एक धार्मिक और लौकिक मूर्तियाँ बनीं। उस काल कला के तीन प्रधान केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ और अमरावती। उत्तर-पश्चिम सीमा की गान्धार-कला का उल्लेख पहले कर ही आए हैं। तक्षशिला-पेशावर वाले केन्द्र भी कनिष्क के ही राज्य में थे। मथुरा के उस काल के जैन और बौद्ध-स्तूपों के भग्नावशेषों को देखकर आदमी हैरत में आ जाता है। उनके चारों ओर दौड़ने वाली रेलिंगें जीवन का उल्लास हमारे सामने बिखेर देती हैं। भरहुत और साँची की आकृतियों का चिपटापन अब गोलाकार होकर स्वाभाविक और आदमी की आकृति के बहुत निकट आ गया है। यक्षिणियाँ, शालभंजिका की मुद्रा में पेड़ की डाली पकड़े हुए, अशोक का दोहद करतीं, स्नान करतीं, वीणा बजातीं, गेंद खेलतीं, दीप लिए जातीं, अनेकानेक अवस्थाओं में मूर्त्तिमती हुई हैं। उसी काल सूर्य की पहली मूर्त्ति इस देश में बनी जो मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित है। नागपूजा के लिए भी तब अनेक नागी मूर्त्तियाँ बनीं। अमरावती, दक्षिण में कुषाण राज्य से बाहर थी पर उसी शैली की मूर्त्तियाँ वहाँ भी बनीं। प्राचीन काल से जो स्तूप वहाँ चले आते थे उनको सुन्दर आकृतियों से भरी संगमरमर की पट्टियों से ढक दिया गया और रेलिंगों से घेर दिया गया। अमरावती की मूरतें और भी स्वाभाविक और आकर्षक हैं।

कनिष्क ने ही ७८ ई० में वह संवत् चलाया जिसका नाम उसके बहुत दिनों तक शक राजाओं के इस्तेमाल के कारण शक संवत् पड़ा और जो हमारी तिथि-गणना की परम्परा में इतना प्रसिद्ध हुआ।

कनिष्क की राजधानी में अनेक महान् पंडित और बौद्ध विचारक थे। पार्श्व, वसुमित्र और अश्वघोष का उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं।

नागार्जुन भी शायद तभी हुआ और तभी कदाचित् भारतीय आयुर्वेद का महान् पंडित चरक भी।

कनिष्क के सम्बन्ध से भारतीय बौद्ध संस्कृति खुलकर मध्य एशिया में फैली। चीन के पश्चिम और पूर्वी ईरान पर तो कनिष्क का ही राज था और वहाँ तक बौद्ध-धर्म का फैल जाना तो स्वाभाविक ही था। पर निश्चय वहीं तक उस धर्म के विस्तार की सीमा न थी और वह दूर-दूर तक जा पहुँचा। कनिष्क का सम्बन्ध एक ओर चीन और दूसरी ओर रोमन साम्राज्य से था और उन दोनों दिशाओं में उस धर्म का विस्तार हुआ। खुतन उस काल मध्य एशिया के बौद्ध-धर्म का सब से बड़ा केन्द्र था। धीरे-धीरे बौद्ध-भिक्षुओं ने बुद्ध की मूर्त्तियाँ सारे एशिया में खड़ी कर दीं। भारत की संस्कृति की बेलें सर्वत्र लग चलीं।

बारहवाँ अध्याय

गुप्तकाल का सुनहरा युग

गुप्तकाल से पहले

कुषाण शक्ति को तोड़ने वाले ग्वालियर के आस-पास के नाग राजा थे। उस काल बुन्देलखण्ड पर ब्राह्मण वाकाटकों का राज था और ग्वालियर के आस-पास क्षत्रिय नागों का। उन दोनों के योग से इस देश के उत्तरी और मध्य भाग में एक राष्ट्रीय चेतना जगी और उसे फैलाने का बीड़ा नागों ने उठाया।

नाग 'भारशिव' कहलाते थे, क्योंकि वे शिव के भक्त थे और शिव-लिंग अपनी पीठ पर धारण करते थे। उनके युद्धों में इस प्रकार शिव सदा उनकी वीरता का साक्षी रहता था और वे कभी पीठ दिखाकर अपने देवता पर शत्रु की चोट नहीं ले सकते थे। इसी से इतिहास में कहीं इनकी हार का ज़िक्र नहीं आया। वे सदा विजयी हुए और एक के बाद एक उन्होंने दस अश्वमेध कर उस प्रकार के दिग्विजयी यज्ञों की परम्परा बाँध दी। इतने यज्ञ भारत के किसी राजकुल ने कभी न किए। जब-जब नाग राजा अपने अश्वमेध द्वारा कुषाणों को हराते, तब-तब वे उस यज्ञ का स्नान काशी की गंगा में करते। उन्हीं अश्वमेधों और स्नानों की संख्या से काशी के प्रसिद्ध घाट 'दशाश्वमेध' का नाम पड़ा जो आज तक चलता है और डेढ़ हज़ार सालों से चलता आया है। अश्वमेध में घोड़े की पूजा कर उसे बे-लगाम अपने राज्य के बाहर छोड़ दिया जाता था और उसके पीछे उसकी रक्षा के लिये अश्वमेध करने वाले राजा का लड़का या सेनापति सेना लेकर चल पड़ता। घोड़ा आज़ाद स्वतन्त्र

राजाओं के राज में विचरता। अगर उस राजा को, जिसकी ज़मीन पर घोड़ा जाता, घोड़ा छोड़ने वाले का आधिपत्य स्वीकार न होता तो वह घोड़े को बाँध लेता और लड़ाई छिड़ जाती। अगर घोड़ा छोड़ने वाला विजयी होता तो हारे हुए राजा का राज उसे मिल जाता वरना अश्वमेध भंग हो जाता। सालभर तक इस प्रकार घूमकर घोड़ा अपने स्वामी के पास लौटता और यदि उसका पक्ष घोड़े की रक्षा में सफल होता तो जिस-जिस राज्य में वह फिरा होता वे सारे राज्य उसके स्वामी के साम्राज्य में मिला लिए जाते। फिर स्वामी, जो घोड़ा छोड़कर उसके लौटने के इन्तज़ार में सालभर अपने यज्ञमण्डप के घेरे में पूजा की क्रियाएँ करता रहता, घोड़े को बलि देकर यज्ञ की बची हुई विधि पूरी करता। इस प्रकार भारशिवनागों का दस-दम अश्वमेध करना कुछ खेल न था। परिणाम यह हुआ कि कुषाणों की शक्ति देश में नष्ट हो गई और उन्हें अपनी पश्चिमी सीमा काबुल आदि में शरण लेनी पड़ी।

गुप्तकाल

इस पृष्ठभूमि से उठने वाले गुप्तों का यशस्वी होना स्वाभाविक ही था। गंगा-यमुना के द्वाब, अवध और मगध से उठकर गुप्त राजाओं का प्रताप देश में फैल चला। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवी गणतंत्र के एक मुखिया की लड़की को ब्याह कर अपनी इज्ज़त बढ़ाई और उसके बेटे समुद्रगुप्त ने लिच्छवियों का दौहित्र होने से अपने को धन्य माना। समुद्रगुप्त ने विजय-यात्रा की और आर्यावर्त्त के राजाओं को जड़ से उखाड़ कर उसने दक्षिण तक देश को रौंद डाला और सीमाप्रान्त के शक-कुषाणों तक से कर वसूल किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य उसका बेटा था, जिसने मालवा में शकों की शक्ति तोड़ और समुद्र से समुद्र तक राज्य क़ायम कर, पामीरों में आमू दरिया तक हूणों पर धावा बोल उस राष्ट्रीय भावना को जगाए रखा, जिसका आरम्भ भारशिव नागों ने किया था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों का एक नया शक्तिमान संगठन हुआ। स्वयं चन्द्रगप्त ने अपनी बेटी ब्राह्मण वाकाटक राज को देकर मालवा के

शकों पर चढ़ाई करने के लिए वह राह अपने नए सम्बन्धियों से माँगी और पाई जो वाकाटकों के राज से होकर गुज़रती थी। उसके पोते स्कन्दगुप्त ने हूणों से लड़ते हुए कुछ काल उनकी राह रोक उस राष्ट्रीय भावना को जीवित रखा और साधारण सैनिकों की तरह सूखी जमीन पर सो-सो कर उसने रणभूमि में रातें बिताकर अपने तप और साधना का परिचय दिया। परन्तु बर्बर हूणों ने गुप्त साम्राज्य को अपनी चोटों से तोड़ डाला।

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है। सच ही वह धार्मिक सहिष्णुता, साहित्य, कला, विज्ञान, शासन आदि का सुनहरा युग था। दीर्घ-काल तक देश के एक बड़े भाग पर एक ही शक्तिमान कुल के उदार और पराक्रमी राजाओं का राज स्थापित हो जाने का ही यह परिणाम था। उसका वर्णन तनिक विस्तार से हम नीचे करेंगे।

राजनीति

गुप्तों की राजनीति शक्तिमान और उदार थी। व्यक्तिगत कर उठा दिया गया था। प्रजा या विदेशी एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना किसी रुकावट या किसी मजिस्ट्रेट के सामने हाज़िर हुए जा सकते थे। दण्ड-विधान अत्यन्त साधारण था। प्रायः सारे अपराधों का दण्ड जुर्माना था—बड़े अपराधों का जुर्माना बड़ा, छोटों का छोटा। राजद्रोह तक के अपराधी का केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता था। प्राणदंड तो बिल्कुल होता ही न था। राज की आय अधिकतर खेतों की उपज से आती थी और लगान सिक्कों या अन्न के रूप में लिया जाता था। सरकारी नौकरों को नियमित वेतन मिलता था।

गुप्त सम्राटों के अनेक लेख मिले हैं जिनसे उनके शासन पर प्रकाश पड़ता है। राजा अपने मंत्री ऐसे कुलों से चुनता था जिनसे पहले भी बराबर मंत्री चुने जाते रहे थे। उनके गुण फिर भी उनकी नियुक्ति में सहायक होते थे। साम्राज्य प्रांतों में बँटा था जिनको 'देश' या 'भुक्ति' कहते थे। राज-परिवार या प्रसिद्ध कुलों से उनके शासक नियुक्त किये

जाते थे और उन प्रांतीय शासकों को 'उपरिक महाराज' या 'गोप्ता' कहते थे। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ वाले शिलालेख से पता चलता है कि काठियावाड़ का गोप्ता चुनते समय उसने कैसे रात-दिन उसके गुण-दोषों पर विचार किया था। प्रांतों के नीचे ज़िले थे जिनको 'विषय' कहते थे। बड़े-बड़े पदाधिकारियों के पदों के नाम थे, कुमारामात्य, महादण्ड-नायक, महाप्रतिहार आदि। विषय का शासक विषयपति कहलाता था। ज़िले के सदर मुकाम को 'अधिष्ठान' कहते थे और उसके दफ़्तर को 'अधि-करण'। राजा की ही तरह विषयपति की भी एक परिषद् होती थी जिसमें प्रजा के प्रतिनिधि बैठकर शासन में उसकी सहायता करते थे। उसमें नगर-सेठ, सार्थवाह, प्रथम-कुलिक (मुख्य मिस्त्री) और प्रथम-कायस्थ (मुख्य लेखक) बैठते थे। एक अधिकारी पुस्तपाल कहलाता था जो खेतों का रेकार्ड रखता था और जिसकी जानकारी के विना खेतों की ख़रीद-फरोख़्त नहीं हो सकती थी। गाँव पहले की ही भाँति शासन का आधार था और उसका मुखिया ग्रामिक पंचायत की सहायता से गाँव में शांति और रक्षा का प्रबन्ध करता था। उसी काल के कालिदास ने लिखा है कि मार्ग में सोई हुई स्त्रियों का आँचल हवा तक छू सकने का साहस न करती थी। यह उस शासन की सफलता का सबूत है। वैसे उसका सबूत तो वह चीनी यात्री फाहियान भी है, जिसने समूचे देश को दो-दो बार लाँघा पर कहीं एक चीज़ तक उसकी चोरी नहीं गई।

साहित्य और शिक्षा

साहित्य जितना उस काल चमका उतना भारतीय इतिहास में कभी न चमका। संस्कृत साहित्य के चोटी के अनमोल रत्न तभी रचे गए। बड़े-बड़े मेधावी लेखक, दार्शनिक और कवि इस युग में हुए जिन्होंने अपने ज्ञान और विज्ञान से संस्कृत-भाषा और साहित्य को भरा-पूरा। इसका एक कारण यह भी था कि गुप्त सम्राट् न केवल विद्वानों के संरक्षक थे वरन् स्वयं भी मेधावी और विद्याव्यसनी थे। समुद्रगुप्त विद्वानों का आदर तो करता ही था, उसने स्वयं भी फुटकल कविताओं

से काव्य के क्षेत्र में 'कविराज' का पद पा लिया था। शास्त्रों में उसकी गहरी गति थी और संगीत का भी वह बड़ा जानकार था। एक प्रकार के उसके सिक्कों पर वीणा बजाते हुए उसकी मूर्ति खुदी है। समुद्रगुप्त के शासन का महान् कवि हरिषेण था, जिसने इलाहाबाद के अशोक के स्तम्भ पर ही समुद्रगुप्त की विजयों का ब्यौरा गद्य-पद्य की मिली-जुली शैली में संस्कृत में लिखा। उस काल के तीन महान् बौद्ध-दार्शनिक संस्कृत दर्शन-साहित्य के नक्षत्र माने जाते हैं—वसुबन्धु, उसका भाई असंग और दिङ्नाग। दिङ्नाग की प्रतिभा से उस काल के लोग डरते रहते थे। परम्परा कहती है कि कालिदास के काव्य की उसने बड़ी कड़ी आलोचना की थी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का नाम तो संस्कृत-साहित्य के सब से महान् कवि कालिदास से जुड़ा हुआ है। कहते हैं कि उसकी सभा में 'नवरत्न' रहते थे। इन नवरत्नों में तो अनेक आपस में समकालीन भी न थे पर निश्चय उनमें से कई गुप्त-काल में ही हुए और शायद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राज-सभा से भी सम्बन्ध रखते थे। उन नवरत्नों में सब से चमकीला रत्न स्वयं कालिदास था। उसने चार काव्य और तीन नाटक लिखे। उसके काव्यों के नाम हैं—ऋतुसंहार, मेघदूत, रघुवंश और कुमारसम्भव। उसके नाटकों के नाम हैं—अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र। कालिदास के कुछ काल बाद परन्तु गुप्तकाल के सम्बन्ध में ही अपना नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त' लिखने वाला विशाखदत्त हुआ। उसका प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' राजनैतिक षड्यंत्र के विचार से संसार के नाटकों में अद्वितीय है। 'अमरकोश' लिखने वाले अमरसिंह भी तभी हुए और तभी शायद भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के महान् जानकार धन्वन्तरि भी हुए। पिछले गुप्तों के समय कुमारगुप्त द्वितीय का प्रसिद्ध राजकवि वत्सभट्टि था, जिसने ललित छन्दों में मन्दसोर का अभिलेख प्रस्तुत किया।

उस काल विज्ञान ने भी बड़ी उन्नति की और भारतीय विज्ञान के

तीन महान् स्तम्भ—आर्य्यभट्ट, बराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त—तभी हुए। गणित और ज्योतिष में उन्होंने अद्भुत ग्रंथ लिखे। आर्यभट्ट ने अनुमान से जो पृथ्वी की परिधि नापी, वह आज भी करीब-करीब सही मानी जाती है। बराहमिहिर शायद शाकद्वीपी ईरानी ब्राह्मण था, जिसने ज्योतिष के अपने ग्रन्थों में देशी-विदेशी सभी सिद्धान्तों को एकत्र किया। ब्रह्मगुप्त महान् गणितज्ञ था और प्राचीन गणितज्ञों की उसने बड़ी छान-बीन की। वह छठी सदी ई० में हुआ।

गुप्त-शासन में अनेक धार्मिक ग्रंथों का फिर से सम्पादन या निर्माण हुआ। पुराण, जो पहले से चले आते थे, अधिकतर आज के रूप में तभी लिख डाले गए। 'मनुस्मृति' भी जोड़-घटाकर आज के रूप में लाई गई और याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा नारद की स्मृतियों में भी समय के अनुकूल अनेक परिवर्त्तन किए गए। सूत्रों पर टीकाएँ लिखकर नई प्रचलित प्रथाओं का उनमें अनुमोदन हुआ। साहित्य इस प्रकार अनेक रूपों से फला-फूला।

स्पष्ट रूप से तो हमें उस काल की शिक्षा का सविस्तर ब्यौरा नहीं मिलता पर इसमें सन्देह नहीं कि जिस शिक्षा-प्रणाली ने कालिदास, वसुबन्धु दिङ्नाग, धन्वन्तरि, वत्सभट्टि, आर्यभट्ट, बराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के-से पंडितों को शिक्षित किया, वह कुछ साधारण न रही होगी। इन कवियों और पंडितों के ग्रंथों से पता चलता है कि शिक्षा की दृष्टि से अनेक पुस्तकें वर्तमान थीं, जैसे चारों वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, दर्शन, कामसूत्र, अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत, पुराण सभी कुछ। आचार्य और उपाध्याय शिष्यों और ब्रह्मचारियों को अपने पास रखकर पढ़ाते थे। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी संस्थाएँ भी धीरे-धीरे खड़ी हो रही थीं, जिनका रूप विश्वविद्यालय-सा बनता जा रहा था। तक्षशिला का विश्वविद्यालय तो प्राय: ३०० वर्ष पहले बन्द हो चुका था पर नालन्द का प्रसिद्ध विद्यालय, जिसने अगली शिक्षा-प्रणाली को इतना प्रभावित किया, धीरे-धीरे अब बन चला।

धर्म

गुप्त-काल की संस्कृति पिछले इतिहास के अन्त और अगले के शुरू में, दोनों की सन्धि पर खड़ी हुई। प्राचीन जगत् टूट रहा था और उसकी जगह नया खड़ा हो रहा था। धर्म और समाज के क्षेत्र में हिन्दू-परिवार आज जिस संस्कृति में पल रहे हैं, वह गुप्तकाल की ही देन है। उसी के पौराणिक धर्म, उसी के अनगिनत देवता और देवियाँ, उसी के जन-विश्वास आज के हिन्दू समाज के न केवल बुनियाद हैं पर उसका प्रायः सर्वतोमुखी जीवन हैं। प्राचीन धर्म अनेक प्रकार से देशी और विदेशी विकारों से भर गया था। अब उन्होंने उसमें से कटुता हटाकर बड़े पैमाने पर उदार बुद्धि से उसे संघटित किया। धर्म अर समाज में बाहरी प्रभावों को पचा लेने की अद्‌भुत क्षमता थी ही, उन्होंने सभी प्रकार से अपने धर्म को बाहरी सामग्री से भी सँवार लिया। बौद्धों तक को ब्राह्मण धर्म ने प्रायः आत्मसात् कर लिया और जिस समय बौद्ध-धर्म हिन्दू देवता को अपने प्रधान देवता बुद्ध के पार्श्वचर बना रहा था, उस काल वह भूल गया कि एक दिन वह ऊपरी हिन्दू-धर्म का पहनावा ही उसे निगल जाएगा। वही हुआ। हिन्दूधर्म के भक्ति-मार्ग ने बुद्ध को राम-कृष्ण के पास खींच लिया और एक दिन उन्हीं की परम्परा में वे अवतार मान लिए गए, जहाँ राम और कृष्ण के सामने उनका स्थान स्वाभाविक ही नीचे था। हिन्दू-धर्म अपनी विजय के पथ पर था।

गुप्त सम्राट् स्वयं वैष्णव थे और अपने को परम भागवत कहते थे। पर उन्होंने कभी वैष्णवों और शैवों के साथ पक्षपात कर बौद्धों और जैनों का विरोध न किया और न उनके देवताओं की किसी अंश में नाक़दरी की। उस काल पूजे जाने वाले देवता और देवियों में, विष्णु, शिव, कार्त्तिकेय, सूर्य, लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती आदि थे। गंगा और यमुना की देव-मूर्त्तियाँ भी तभी बन चलीं। यज्ञों की महिमा फिर बढ़ी। पुण्य कमाने की आशा से हिन्दू इस युग में सत्रों की व्यवस्था करते थे और ब्राह्मणों को सुवर्ण और गाँव दान देते थे।

बौद्ध और जैन-धर्म पहले की-सी उन्नति की अवस्था में न थे। फाहियान लिखता है कि पंजाब और बंगाल में तो बौद्ध-धर्म कुछ अच्छी हालत में था भी, पर मध्यदेश में तो उसका ह्रास हो चला था। फिर भी उस काल की हज़ारों-हज़ारों एक से एक अच्छी बुद्ध और जिन की मूर्त्तियों को देखकर ऐसा लगता नहीं कि उन धर्मों के प्रचलन में विशेष कमी हो गई हो।

समाज

यह सही है कि अनेक सदियों से बराबर इसकी कोशिश की जा रही थी कि वर्ण शुद्ध बने रहें और एक-दूसरे में खान-पान, विवाह आदि न हों, पर जान पड़ता है कि व्यवहार में वह इतना सम्भव न हो सका। अन्तर्वर्ण विवाहों के उस काल अनेक प्रमाण मिलते हैं। क्षत्रिय नाग-राजाओं ने ब्राह्मण वाकाटक राजाओं के कुल में विवाह किए। इस प्रकार क्षत्रिय गुप्त सम्राटों और ब्राह्मण वाकाटकों में भी विवाह-सम्बन्ध स्थाप्ति हो गये। विधवा अथवा विवाहिता नारी या पति के रहते दूसरे विवाह का प्रमाण भी मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अपने बड़े भाई राजा रामगुप्त को मारकर या उसके जीते ही उसकी पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया था। ऐसे विवाह से उत्पन्न बालक अनौरस भी नहीं माना जाता था जैसा कि चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी के पुत्र कुमारगुप्त के राजा होने से प्रमाणित है।

मनुस्मृति और दूसरी स्मृतियों में तो वर्णशंकर जातियों की लम्बी सूची दी हुई है। चीनी यात्री फ़ाहियान भी इस दशा का वर्णन करता है जो शर्मनाक है। वह कहता है कि चाण्डाल आदि नीच जातियों को नगर में रहने का अधिकार न था और जब कभी वे नगर में प्रवेश करते थे तो लकड़ियाँ बजाते हुए आते थे, जिससे सवर्ण हिंदू उनकी आवाज़ सुनकर अलग हट जायें और उनके छू जाने से अपवित्र न हो जायें। इतिहास के उ‌स सुनहरे युग पर यह शर्म का बड़ा स्याह धब्बा

है। दुनियाँ के किसी देश में इतनी बड़ी जनता इस प्रकार अछूत नहीं करार दी गई।

फ़ाहियान कहता है कि लोग शरीर-मन से शुद्ध थे, दूसरे धर्मों का आदर करते थे, माँस, प्याज आदि न खाते थे, शराब न पीते थे, चोरी न करते थे, घरों में ताला न लगाते थे। जीवन सुखी और सादा था।

कला

गुप्तकाल में ललित कलाएँ, विशेषकर मूर्ति और चित्रकलाएँ, अपनी चोटी पर पहुँच गईं। उस काल के भवन तो आज बहुत कम खड़े हैं और जो आज हैं भी वे खण्डहरों के रूप में बच रहे हैं पर उन खण्डहरों से भी गुप्तकालीन वास्तु-कला का गौरव स्थापित हो जाता है। झाँसी ज़िले के देवगढ़ में और कानपुर ज़िले के भीतर गाँव में दो मन्दिर अब भी खड़े हैं। देवगढ़ की मूर्तियाँ असाधारण शारिरिक सौन्दर्य लिये हुए हैं। भीतर गाँव का मन्दिर ईंटों का बना है पर उसकी एक-एक ईंट भिन्न-भिन्न फूलदार साँचों से ढाली गई है। मिट्टी की दो-दो फुट लम्बी-चौड़ी, रामायण-महाभारत की कथाओं को व्यक्त करने वाली मूरतें मन्दिर के चारों ओर खानों में जड़ी हुई थीं। अजन्ता और दक्षिण की अनेक गुफाएँ उसी काल पहाड़ों में खोद कर मन्दिर बना ली गई थीं।

निखार-परिष्कार में उस काल की मूर्त्तियाँ अपना सानी नहीं रखतीं। जिस राष्ट्रीयता का नागों ने आरम्भ किया था उसे चरम सीमा पर गुप्तों ने पहुँचाया। एक से एक सुन्दर बौद्ध, जैन और हिन्दू-देवता पत्थर में कोरे गए। आकृतियाँ अब पूरी-पूरी स्वाभाविक हो गई थीं, अण्डाकार। ग्रीकों का असर बिल्कुल गायब हो गया था और अधिकतर मूर्त्तियों के घुँघराले बाल उनके कन्धों पर झूलते थे। उस काल की, धर्म का चक्र घुमाते हुए सारनाथ की बुद्ध की बैठी मूर्त्ति और मथुरा की अभयमुद्रा में खड़ी बुद्ध की मूर्त्ति आज भी अचरज की कला प्रदर्शित करती हैं। मिट्टी की मूर्त्तियाँ भी तब की ग़ज़ब की खूबसूरत हैं और अपने

तीखे नाक़-नक़्श, अण्डाकार चेहरा और घुँघराले बालों से आसानी से पहचानी जा सकती हैं। कुर्किहार की धातु की मूर्त्तियों से पता चलता है कि धातु की ढलाई में भी गुप्त-काल ने कितनी तरक्की कर ली थी। दिल्ली के पास मेहरौली गाँव में कुतब की लाट के निकट ही जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की लोहे की लाट है, उसकी धातु इतनी अच्छी है कि आज डेढ़ हज़ार वर्ष से धूप और बरसात में खड़े रहते भी उस पर जंग न लगी।

चित्रकला तो उस काल की संसार के इतिहास में अद्वितीय है। अजन्ता और बाघ की गुफाओं में जो चित्र बने हैं, उनकी प्रशंसा संसार के सभी कलाकारों ने मुक्त-कण्ठ से की है। उनकी खूबसूरती, ताज़गी, सजीवता और भावों की अभिव्यक्ति अनोखी है। कुछ अजब नहीं कि अनेक स्थानों में कलाकारों ने उन्हीं को माडल मानकर अपने चित्र बनाए हों। दक्षिण-भारत के सित्तनवसल और लंका की सिगिरिया के चित्र भी उसी परम्परा में बने हैं। गुप्तकाल की कला और बौद्ध-संस्कृति से तब का विदेशी संसार भी बड़े जोर से प्रभावित हो रहा था। बर्मा, अनाम, कम्बुज, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो आदि में हिन्दुओं और बौद्धों की बस्तियाँ बस चुकी थीं और उनके अभिराम मन्दिर अपनी-अपनी मूर्त्तियों से भर चुके थे। चीन के कान्सू प्रान्त में तान्हुआंग में ४६९ गुफाएँ खोदी जा चुकी थीं और अजन्ता की देखा-देखी सुन्दर से सुन्दर बौद्ध-चित्र अब वहाँ उतर चले। कोरिया और जापान तथा मँगोलिया पर भी बौद्ध-धर्म ने अपना प्रभाव डाला। लंका कब का बौद्ध हो चुका था और सारा मध्य-एशिया उस काल बौद्ध संस्कृति के प्रभाव में था।

व्यापार

व्यापार के क्षेत्र में सदियों से भारत का सम्बन्ध पश्चिमी और पूर्वी समुद्र पार के देशों से चला आ रहा था और अब जो शकों की शक्ति टूट जाने पर मालवा, गुजरात और काठियावाड़ भी गुप्तों के अधिकार

में आ गए और इस प्रकार सागर से सागर तक एक ही उदार राज-कुल से शासित होने लगा, तब तो सभी प्रकार से और भी वह व्यापार बढ़ चला। सिक्के एक से एक सुन्दर बनने लगे थे। उन्होंने पुराने विदेशी मान छोड़कर नए स्वदेशी मान अपनाए। सोने, चाँदी और ताँबे तीनों प्रकार के गुप्त-सिक्के चलते थे और एक से एक सुन्दर थे। सोने के सिक्के दो प्रकार के थे—दीनार और सुवर्ण। दीनार तो रोमन और कुषाण आधार पर बने थे पर सुवर्ण तो बिल्कुल भारतीय आदर्श के अनुरूप थे। गुप्तों ने उन पर भी अपने लेख पद्य-खण्डों में लिखवाए थे। इनमें कुछ अश्वमेध की यादगार के रूप में घोड़े की शक्ल लिए हुए हैं, कुछ विवाह की यादगार में पत्नी को अँगूठी देते हुए दिखाए गए हैं। कुछ में शिकार करते हुए राजा की आकृति बनी है, कुछ पर वीणा बजाते हुए। व्यापार इन सिक्कों की सहायता से और भी फला-फूला। ये सिक्के अपने वज़न और धातु की सच्चाई से उस काल की समृद्धि प्रकट करते हैं। बीच के छोटे-छोटे राज्यों के टूट जाने से अब हर सीमा पर जो चुंगी नहीं देनी पड़ती थी, उससे माल भी सस्ता बिकता था। नदियों और समुद्रों की राह और स्थल-मार्ग से सौदागरों के कारवाँ चलते थे। देश में धन धारासार बरसता था।

तेरहवाँ अध्याय

मध्य काल

हूणों ने गुप्त-साम्राज्य को रोमन-साम्राज्य तोड़ने के कुछ ही दिनों बाद तोड़ा। और जैसे यूरोप और पश्चिमी एशिया में उनके कारण अराजकता फैली थी, भारत में भी फैली। स्मृतियों के आचार फिर टूटकर बिखर गए, नीचे की दबी हुई जातियाँ ऊपर उठ आईं। जैसे शकों ने अलाट के झंडे के नीचे कण्वों के बाद मगध को लूटा और वहाँ के मर्दों को मारकर समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया था, वैसे ही अब हूणों ने देश को अपने आतंक से भर दिया। मध्य देश में वे हार तो गए और कश्मीर भी उन्हें जल्द ही छोड़ना पड़ा, पर उनका असर समाज के ऊपर गहरा पड़ा और उसे एकत्र रखने वाले सारे सूत्र टूट गए। बंगाल और सिन्ध में शूद्रों के राज खड़े हो गए और पालों का साम्राज्य तो हर्ष के बाद काफी प्रबल हुआ।

उस मध्य काल की सबसे महत्व की घटना राजपूत जातियों का उठना था। पहले के क्षत्रिय निर्बल हो चुके थे और गूजरों, अहीरों और हूणों ने उठती हुई निचली जातियों को नई शक्ति दी। आभीरों ने तो शकों के बाद ही अपना राज्य कायम कर लिया था और अपनी बोली के योग से वे प्राकृत भाषा को प्रभावित कर चुके थे, इधर गुर्जरों ने काठियावाड़ और लाट पर अधिकार कर लाट को अपना गुजरात नाम दिया। उनकी गूजरी बोली ने भी प्राकृतों को कुछ कम प्रभावित न किया। उन्हीं के सम्बन्ध से वह प्रबल गुर्जर-प्रतीहार नाम की राजपूत जाति बनी, जिसने जोधपुर के पास मन्दौर से उठकर कन्नौज पर कब्ज़ा

कर लिया और साम्राज्य-शक्ति के लिए एक ओर दक्षिण के राष्ट्रकूटों से, दूसरी ओर बंगाल के पालों से लोहा लिया। प्रतीहार, परमार, चौहान आदि नए क्षत्रिय थे, जो अग्निकुल के क्षत्रिय कहलाते हैं, क्योंकि आबू के पहाड़ पर उनको यज्ञ द्वारा शुद्ध किया गया था। पर यही जातियाँ किस प्रकार भारत के गौरव के लिए कटिबद्ध हुईं, यह कहना न होगा। आगे का इतिहास तो उनके ही साहस, वीरता, त्याग और जौहर की कहानी है। परमारों में मुंज और भोज ने जिस साहित्य की उन्नति की, वह स्वयं भारतीय संस्कृति का अपूर्व आदर्श उपस्थित करता है। दक्षिण की नई राजपूत जातियों में प्रधान, चालुक्य और राष्ट्रकूट थे। मध्य भारत में शीघ्र ही कलचुरी, चन्देल, कछवाहे और उत्तर में गहड़वाल प्रबल हुए।

यह मध्यकाल ६०० ई० और १२०० ई० के बीच पड़ता है, इसलिए इसका आरम्भ हर्ष के शासन-काल से करना उचित होगा। हर्ष थानेश्वर का था और उसके पिता ने हूणों और गुर्जरों को अनेक बार धूल चटा दी थी। मालवा के गुप्तों और बंगाल के शशांक ने हर्ष के बहनोई कन्नौज के मौखरी राजा ग्रहवर्मन को मार डाला। तब हर्ष साथ ही साथ कन्नौज का भी स्वामी बना। शशांक बौद्धों का विरोधी था और उसने वह काम किया, जो धर्म के प्रचार के लिए इस देश में कभी नहीं किया गया था। उसने गया का बोधि-वृक्ष कटवा कर उसकी जड़ में अंगारे धर दिए, जिससे वह फिर पनप न सके।

हर्ष का राजकुल तो सूर्य और शिव की पूजा करता था और स्वयं वह भी इन देवताओं का आदर करता था, पर वह था स्वयं बौद्ध। इसी कारण चीनी यात्री हुएनच्वाँग को उसने अपनी संरक्षा दी। यात्री ने कन्नौज में आकर ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ किया और जैसा वह कहता है, उसने उनको हरा भी दिया। जो भी हो, हर्ष उसे लिए प्रयाग में त्रिवेणी के संगम पर पहुँचा और वहाँ उसने अपना सब कुछ ब्राह्मणों, भिक्षुओं और दरिद्रों को दान कर दिया। हर पाँचवें साल वह ऐसा ही

करता था। हर पाँचवें साल जो वहाँ मेला लगता था, उसे 'महामोक्ष-परिषद्' कहते थे। मेला तो तीर्थ के कारण वहाँ स्नान करने वालों का पहले से ही लगता आया था, और बाद में तो उसने कुम्भ का रूप धारण कर लिया।

हर्ष स्वयं भी साहित्यकार था और साहित्यकारों का आदर करता था। उसने नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका नाम के नाटक लिखे। उसी के दरबार में प्रसिद्ध साहित्यकार बाणभट्ट और मयूर हुए। बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' लिखे और मयूर ने चण्डीशतक। उस काल के आस-पास ही भर्तृहरि हुए थे, जिन्होंने अपने प्रसिद्ध 'नीतिशतक', 'वैराग्यशतक' और 'श्रृंगारशतक' लिखे। कुछ ही काल बाद महाकवि भवभूति ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' लिखे और वाक्पतिराज ने प्राकृत में अपना 'गौडबहो' लिखा। दोनों यशोवर्मन की राजसभा में कन्नौज में ही रहे थे।

हर्ष फिर भी उस काल की अराजकता में एक महान् प्रतिबन्ध था। पर उसके हटते ही भीतरी-बाहरी जातियां विशेष प्रबल हुईं। गूजर, अहीर, जाट, शूद्र अपने-अपने राज्य कायम कर ही चुके थे और राजपूत जातियाँ भी सर्वत्र प्रबल हो चली थीं। बंगाल पर पालों का राज था, जो कन्नौज के गूजर-प्रतीहारों और दक्षिण के राष्ट्रकूटों से बहुत दिनों तक जूझते रहे थे। वे बौद्ध थे और उन्होंने नालन्द और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों को अपने योग से भरा-पूरा। नालन्द का विश्वविद्यालय तक्षशिला के विश्वविद्यालय से भी बड़े आकार और महत्व का था। हज़ारों विद्यार्थी देश-विदेश से आकर वहाँ ज्ञान के सभी विषय पढ़ते थे। सौ उच्च कोटि के विद्वान् एक ही साथ सौ विषयों पर वहाँ व्याख्यान देते थे। छमंज़िल इमारतें विद्यार्थियों और भिक्षुओं के रहने के लिए वहाँ बनी थीं। हुएनत्वांग और इत्सिंग चीन से आकर वहाँ पढ़े थे। बड़ी कठिनाई से बड़ी प्रतिभा वाले विद्यार्थियों का वहाँ दाखिला होता था। शुरू में गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त ने वहाँ एक विहार बनवा दिया था जो

उस महान् विश्वविद्यालय का आधार बन गया। हर्ष ने भी उसके खर्च के लिए अनेक गाँव देकर उसे समृद्ध किया और पालों ने भी उसको और विक्रमशिला को अपने दान से सम्पत्तिवान् किया।

पालों का बंगाल शूद्र और बौद्ध राजसत्ता में रहने के कारण धर्म-शास्त्रों के आचार का अनुयायी न रहा। तांत्रिकों, शाक्तों, मन्त्रयानियों और वज्रयानियों के अनेक ब्राह्मणविरोधी पंथ खड़े हो गए। उन सबने वर्ण और आचार पर आघात किए और अपने आचरण से सदियों से व्यवस्थित समाज के बन्धनों को तोड़ डाला। उनके लिए कोई आहार बेजा न था, कोई पान अनुचित न था। वे माँस खुलकर खाने लगे, शराब पीना धर्म समझने लगे और नारी का सेवन उनकी पूजा में आवश्यक माना जाने लगा। हूणों आदि विदेशी जातियों ने देश की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को बाहर से तोड़ा था, उन्होंने उसे भीतर से तोड़ा। वज्रयानियों के अनेक सिद्ध या तो शूद्र थे या निकाले हुए ब्राह्मण और उन्होंने साफ़ ऐलान कर दिया कि जो उनका यानी ब्राह्मणों का धर्म होगा, वही हमारे लिए अधर्म होगा और जो उनका अधर्म होगा वही हमारे लिए धर्म होगा। नतीजा यह हुआ कि इन्द्रिय-निग्रह न रहा, सामाजिक प्रतिबन्ध न रहे। और डरे हुए समाज ने इन नए नेताओं के आगे सिर झुका दिया, जिन्होंने किसी प्रकार का शासन या प्रतिबन्ध अपने ऊपर न माना। यहाँ तक कि उड़ीसा के मन्दिरों पर, बुन्देलखण्ड और दक्षिण तक के अनेक मन्दिरों पर शृंगारिक मूर्त्तियाँ बन गईं।

पालों के शासनकाल में कला की फिर भी कुछ कम उन्नति न हुई। तांत्रिक-मूर्तियाँ बोधिसत्वों और प्रज्ञापारमिता आदि की पत्थर और धातु में तब हज़ारों प्रतिमाएँ बनीं और उन्होंने अपने प्रतीकों से प्रायः सारे उत्तर भारत की कला को प्रभावित किया। तिब्बत में बौद्ध-धर्म और नागरीलिपि का प्रचार पहले ही हो चुका था। अब धातु की पाल-काल की मूर्तियों का भी वहाँ प्रवेश हुआ और आज सैंकड़ों तिब्बती तांबे,

पीतल आदि की बोधिसत्व की मूर्तियाँ विद्यमान हैं। तिब्बतियों ने अपने वस्त्र आदि बौद्ध देवताओं को दे दिए फिर भी उनकी कला की रूपरेखा पाल-कला से ही प्रभावित रही।

दक्षिण में राष्ट्रकूटों का प्रभाव बढ़ चुका था और चालुक्यों की शक्ति उन्होंने तोड़ दी थी। गुप्त काल में वाकाटकों ने अजन्ता में अनेकों गुफायें खुदवाईं थीं और उनका कार्य शीघ्र ही चालुक्यों ने ले लिया था। अजन्ता की अनेक गुफाओं के सुन्दरतम चित्र चालुक्य नरेशों की ही सरंक्षा में बने थे। चालुक्यों ने भी हर्ष के जवाब में विदेशों से अपना सम्पर्क स्थापित किया था। हर्ष और चालुक्यराज पुलकेशिन में जो लड़ाई हुई थी, उसमें हर्ष हारा था। तब उसने जो चीन के सम्राट् से सन्धि कर उसे मित्र बनाया तो जवाब में पुलकेशिन ने भी ईरान के राजा खुसरू से सन्धि कर उसको अपना मित्र बनाया।

कुछ काल बाद जब दक्षिण में राष्ट्रकूट राजा प्रबल हुए तब उन्होंने अजन्ता की बौद्ध गुफाओं के जवाब में पास ही एलोरा में अपनी हिन्दू गुफाएँ खुदवा डालीं। अजन्ता की गुफाएँ २९ थीं। एलोरा की ३९ बनीं। ऐसा नहीं कि सब एक साथ बन गई हों, जैसे अजन्ता की सदियों से बनती आई थीं, वैसे ही इनके बनने में भी काफ़ी समय लगा। दक्षिण में सैकड़ों गुफा-मन्दिर बने, कुछ पहले कुछ पीछे। एलिफैन्टा, नासिक, कार्ले, कन्हेरी आदि की गुफाएँ भी कुछ कम महत्व की नहीं हैं, पर अजन्ता और एलोरा की गुफाओं का अपना महत्व है। राजा और वणिक, भिक्षु और संन्यासी इस निर्माण में तत्पर हुए थे। मज़दूरों ने पहाड़ की छाती काटकर उसे रूप दिया था, कलाकारों ने उनकी दीवारें आकृतियों से भर दी थीं। राष्ट्रकूटों के समय का एक विशेष मन्दिर एलोरा की गुफाओं में शिव का है जिसे 'कैलास' कहते हैं। वह इतना विशाल है कि उसके भीतर समूचा ताजमहल मय अपने बगीचे के साथ रखा जा सकता है और यह मन्दिर पहाड़ को काटकर बनाया गया है। उसका हाल कटे हाथियों के ऊपर खड़ा है।

प्रतीहारों, राष्ट्रकूटों और पालों में संघर्ष हुआ, उसमें तीनों में कोई दूसरे को अपने स्थान से नहीं हटा सका। अपने-अपने राज में वे बने रहे, पर कन्नौज, उत्तर भारत की अब राजधानी थी, जहाँ पाटलिपुत्र की राजलक्ष्मी आ बसी थी। उसी पर सब की नज़र लगी रहती थी। उसी काल विदेशी हमले भी शुरू हुए। हर्ष के कुछ ही काल बाद अरबों ने सिंध के ब्राह्मण राजा दाहिर को हराकर वहाँ एक छोटी-सी मुसलमान सल्तनत क़ायम कर ली थी। पर उनका अपनी प्रजा के साथ इतना सद्भाव था कि प्रायः तीन सौ वर्ष तक वह शक्तिशाली हिन्दू-राज्यों से घिरा रहकर भी बना रहा। उसका देश पर कोई विशेष असर न हुआ था पर ग़जनी के तुर्कों ने जो हमलों का ताँता बाँध दिया तो उसने भारतीय राजनीति को बेवस कर दिया। सुबुक्तगीन के बाद उसके बेटे महमूद ने अनेक हमले किए और सारे उत्तर भारत को उसने रौंद डाला। मथुरा, कन्नौज, सोमनाथ सब उसकी चोट से टूट गए और पहली बार हिन्दुओं ने जाना कि उनको एक असाधारण ख़तरे का सामना करना है, जिसके लिए उनके पास कोई बचाव नहीं है। तभी राजा भोज मालवा में राज कर रहा था, तभी कश्मीर की प्रबल रानी दिद्दा अपनी आग से खेलने वाली राजनीति सँवार रही थी। दोनों साहियों की मदद को पंजाब में आए भी पर महमूद के घोड़ों की बाग़ न रुकी। भारतीय राजा आपस में लड़ते रहते थे और इसका सब से बड़ा सबूत यह है कि जब गुजरात के अन्हिलवाड़ का चालुक्य राजा मुसलमानों से लड़ने गया हुआ था, तब तक उसकी मदद तो दूर रही, राजा भोज ने उसकी राजधानी लूट ली। राजा भोज पचास वर्ष अपने चारों ओर के पड़ोसियों से लड़ता रहा था और उसके पड़ोसी भी प्रचण्ड थे पर ऐसा न हुआ कि एक साथ ताक़त लगाकर विदेशियों को धूल चटा दें। अगर उस दिशा में जान किसी ने लड़ा दी तो उन शकों और कुषाणों ने जिनको गुप्तों और नागों ने विजातीय और विधर्मी कहकर देश से निकाल दिया था। वही शक और कुषाण जो कभी शाहिशाहानुशाही कहलाते थे, अब

साहिय कहलाने लगे थे और जान पर खेल कर उन्होंने काबुल के दर्रों में विदेशियों की राह रोकी थी। यह भारतीय संस्कृति गजब की शक्ति थी, जिसने उन्हें ब्राह्मण और क्षत्रिय बना लिया था और अब वही भारत के सन्तरी थे। उनके राजा जयपाल ने हिन्दू राजाओं का जो संघ बनाया वह टूट गया और कई बार हारने के कारण उसने आग में प्रवेश किया। काबुल से पंजाब तक अब महमूद के हाथ में था। सैकड़ों मन्दिरों को लूटने जो वह हर साल इस देश में आता और जो कुछ लूटकर ले जाता, उससे उस काल के भारतीय नगरों के धन और वैभव का पता चलता है। सदियों से राजाओं और प्रजा ने मन्दिरों में अनन्त धन चढ़ाया था जो भारत के बाहर चला गया। नगर और उनके मन्दिर कन्नौज से गुजरात तक ज़मीन से मिला दिए गए पर जनता के कानो जूं न रेंगी क्योंकि उसे राजनीति से सदा अलग रखा गया था। राजओं ने वह अपनी बना ली थी जैसे धर्म को ब्राह्मणों ने। कुछ ही साल बाद महमूद के बेटे के ज़माने में उसके पंजाब के शासक नियाल्तिगिन ने बनारस पर हमला किया और जब तक त्रिपुरी का कलचुरी राजा गांगेयदेव उसकी रक्षा को बढ़े तब तक कुछ ही घण्टों में काशी के मन्दिरों को लूटता और धूल में मिलाता नियाल्तिगिन नौ-दो-ग्यारह हो गया। हिन्दुओं की भारी-भरकम हाथियों वाली सेना अभी आधी दूर भी न आई थी कि मुसलमानों के घुड़सवार रिसाले आए भी और लूटकर चले भी गए।

उत्तर-मध्य-काल

उत्तर-मध्य-काल में दक्षिण में यादव, कदम्ब, गंग, होयसल, शीलहर और काकातिय समय-समय पर प्रबल हुए। पर उत्तर-भारत के राजपूतों की शक्ति ही नई आन-बान के साथ विशेषतः उदित हुई। परमार मालवा के राजा थे। पहले तो उन्हें प्रतीहारों के साथ जूझना पड़ा, पर शीघ्र वे अपनी भूमि पर प्रबल हो गए। उनका संघर्ष विशेषतः चालुक्यों और कलचुरियों से हुआ। उज्जयिनी परमारों की राजधानी थी और उनमें

प्रसिद्ध मुंज और उसका भतीजा भोज हुए। दोनों विद्याव्यसनी थे और दोनों असाधारण पराक्रमी। मुंज ने चालुक्यों को अनेक बार हराया। पर एक बार जब साहस के साथ वह गोदावरी पार कर तैलप के राज्य में घुसता चला गया, तब तैलप ने उसे पकड़ लिया और हाथी से कुचलवा डाला। विद्या से घना सम्बन्ध रखने के कारण मुंज का एक विरुद 'वाक्पति' भी था। उसकी संरक्षा पाए हुए साहित्यिकों में प्रधान 'नवसाहसांक-चरित' का रचयिता पद्मगुप्त, 'दशरूपक' का रचयिता धनंजय, 'दशरूपावलोक' का लेखक धनंजय का भाई धनिक, 'अभिदान-रत्नमाला' तथा 'मृतसंजीवनी' के रचयिता भट्ट हलायुध थे। भोज ने मुंज का बदला लिया और तैलप को नष्ट कर दिया। उसने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर धारा में रखी और तब से धारा विद्या का केन्द्र हुई। मुंज ने स्वयं अनेक साहित्यकारों को अपनी संरक्षा दी थी और हिन्दू, जैन सभी प्रकार के विद्वान् उसकी सभा में थे। पर उस दिशा में अद्भुत कार्य राजा भोज ने किया। उसका लंबा जीवन युद्धों और साहित्य की रचनाओं से भरा है। वह लड़ता भी था और बीच-बीच में साहित्य की रचना भी करता था। उसके नाम से संस्कृत की अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। उनकी संख्या बीसियों है। वह सभी तो निश्चय उसकी लिखी नहीं हैं, पर उनमें से अनेक शायद उसी की रचनाएँ हैं। उन रचनाओं के विषय चिकित्सा, ज्योतिष, गणित, कोष, व्याकरण, वास्तु, अलंकार सभी हैं। उसकी सभा में एक से एक पंडित और कवि थे। कहते हैं कि उसने श्लोक के एक-एक चरण पर लाख-लाख मुद्राएँ दे दी थीं। वह स्वयं सरस कवि था, उसे 'कविराज' कहा भी गया है। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांक-चरित' उसी के पिता सिन्धुल या सिन्धुराज के सम्बन्ध में लिखा था। परम्परा का तो कहना है कि भारत में कभी कोई राजा इतना विद्याव्यसनी न हुआ, जितना राजा भोज था। धारा नगरी में उसने भोजशाला नाम से संस्कृत का एक कालेज स्थापित किया, जिसकी दीवारों से लेखयुक्त अनेक पत्थर की पट्टियाँ

मिली हैं। भोज शैव था और अपने राज के नगरों में उसने अनेक मन्दिर बनवाए। धारा को मन्दिरों और प्रासादों से उसने भर दिया और भोपाल के दक्षिण में भोजपुर नाम का नगर बसाया। पास ही उसने एक बड़ी झील भी बनवाई थी, जिसे मांडू के हुसेनशाह ने मडवा दिया था। सोलंकी और कलचुरी राजाओं ने मिलकर अन्त में भोज पर हमला किया। भोज दोनों मोर्चों पर कुछ काल लड़ता रहा और अन्त में थक कर मर गया। शत्रुओं ने मालवा रौंद डाला। पर वे राजा भोज की अमर कीर्ति न मिटा सके।

कन्नौज अब भी उत्तर-भारत की प्रधान राज-शक्ति था, और उसका गहड़वाल राजकुल आगे चलकर काफी प्रसिद्ध हुआ। गोविन्दचन्द्र और जयचन्द्र उस कुल के प्रसिद्ध राजा हुए। उस कुल का सबसे महान् राजा गोविन्दचन्द्र हुआ, जिसने अपने पूर्वी इलाकों की देख-रेख के लिए काशी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। जयचन्द्र अकारण ही देश-द्रोही के रूप में बदनाम हो गया है, उसका कारण केवल यह था कि उसने पृथ्वीराज के ज़बरदस्ती उसकी बेटी छीन लेने के कारण, गोरी के हमले के समय उसकी मदद न की और पृथ्वीराज के राज-कवि चन्द ने पृथ्वीराज-रासो में शत्रुतावश उसे बदनाम कर दिया। इतिहास में कभी इतना अनुचित दोष किसी के सिर नहीं मढ़ा गया। सच तो यह था कि जहाँ पृथ्वीराज भागता हुआ पकड़ कर मार डाला गया, वहाँ जयचन्द्र वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया था। कन्नौज को शहाबुद्दीन ग़ोरी ने ज़मीन से मिला दिया और काशी तक को लूटा। मथुरा, प्रयाग जो राह में पड़े, सब लूट लिए गए। जयचन्द्र का राज-कवि श्रीहर्ष संस्कृत के प्रधान कवियों में से था। उसका महाकाव्य 'नैषधचरित' बड़े चाव से पढ़ा जाता है। उसमें नल-दमयंती की प्रसिद्ध कथा काव्यबद्ध हुई है। उसने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक तर्क का भी एक ग्रंथ लिखा। उसी काल केदारभट्ट और जगनिक हुए। जगनिक के 'आल्हाछन्द' में चन्देलों, गहड़-वालों और चौहानों का वर्णन मिलता है। यद्यपि उसका रचयिता

जगनिक माना जाता है, पर है वह काफी बाद का। चौहानों का राज पहले साँभर और अजमेर में था। फिर जब पृथ्वीराज के दादा वीसलदेव ने दिल्ली तोमरों से छीन ली तो राजधानी बाद में दिल्ली हो गई। वीसलदेव विग्रहराज स्वयं कुशल कवि था, उसने 'हरकेलि-नाटक' लिखा जो पूरा उपलब्ध नहीं है, परन्तु जिसके कुछ भाग अजमेर के पास की 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' नाम की एक मसजिद में जड़े पत्थर की पट्टी पर खुदे मिले हैं। यह मसजिद वीसलदेव के बनवाए एक संस्कृत कालेज के स्थान पर खड़ी है। विग्रहराज के दरबारी कवि ने 'ललित-विग्रहराज' नामक नाटक लिखा। 'वीसलदेवरासो' भी उसी राजा से सम्बन्ध रखता है। वास्तव में चौहानों के दरबार से भी अनेक साहित्यकार सम्बन्धित थे। 'हम्मीर-महाकाव्य' और 'पृथ्वीराजविजय' में चौहानों के महत्व का वर्णन हुआ है। चन्दवरदाई द्वारा लिखा 'पृथ्वीराजरासो' स्वयं उसी परम्परा का काव्य है, हिन्दी के गाथा-काव्यों में प्रायः सबसे प्राचीन। फिर भी उसका पाठ सन्देहजनक है और भिन्न-भिन्न काल में प्रस्तुत हुआ है। शहाबुद्दीन ग़ोरी ने कन्नौज को समाप्त करने के पहले दिल्ली का ही अन्त किया। उसका पहला मोर्चा पृथ्वीराज से ही हुआ। एक बार तो वह उससे बुरी तरह हारा भी, दूसरी बार उसने चौहानों को परास्त कर दिल्ली उनसे छीन ली। पठान और तुर्क अब पूर्व की ओर बढ़े।

पालों के बाद बंगाल में सेनों की शक्ति जमी। सेन पहले ब्राह्मण थे, दक्षिण से आए थे और बाद में वे क्षत्रिय मान लिए गए। उस कुल के राजा वल्लालसेन और लक्ष्मणसेन विख्यात हो गए हैं। वल्लालसेन ने वर्ण-धर्म की रक्षा के लिए कुलीन-प्रथा चलाई। कन्नौज से कान्यकुब्ज ब्राह्मण बुलाए गए और उन्होंने समाज में विवाहों की एक नई प्रथा ही चला दी। वल्लाल साहित्यिकों का बड़ा आदर करता था और स्वयं कवि था। अपने गुरु की सहायता से उसने 'दान-सागर' और 'अद्भुत-सागर' नामक दो ग्रंथ रचे। इनमें दूसरा जब वह समाप्त न कर सका

तो उसके बेटे लक्ष्मणसेन ने उसे पूरा किया। लक्ष्मणसेन उस कुल का सबसे प्रसिद्ध राजा है। उसी के समय बंगाल पर भी मुसलमानों का अधिकार हुआ। मुसलमान इतिहासकारों ने उसका नाम रामलखमनिया लिखा है। उनका कहना है कि जब शहाबुद्दीन ग़ोरी का जनरल मुहम्मदबिन बख़्तियार अपने १८ घुड़सवारों के साथ उसकी राजधानी नदिया पहुँचा तब, राजा महल के पिछले द्वार से भाग गया।

बख़्तियार ११९७ ई० के लगभग उधर चला और रास्ते में उसने हज़ारों बौद्ध भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया। शायद नालन्दा, विक्रमशिला, उद्दण्डपुर आदि विद्यालयों और विहारों में रहने वाले बौद्ध थे, जिन्हें मुसलमान इतिहासकार 'मुण्डितशिर ब्राह्मण' कहते हैं। बख़्तियार का मुट्ठीभर सेना लिए देश के बीच से अत्याचार करते निकल जाना शायद भारतीय इतिहास में ही सम्भव हो सका। रास्ते के हज़ारों बौद्ध भिक्षुओं का इस छोटी सेना ने वध किया था और किसी ने उसे पूर्व की ओर बढ़ते न रोका। लक्ष्मणसेन की दासियाँ ही अगर चाहतीं तो उसे मार भगा सकती थीं पर देश की संस्कृति ने जनता को राजनीति से जो अलग रखा था तो ऐसा हो जाना कुछ अजब न था। लक्ष्मणसेन ने विजय-स्तम्भ गाड़े थे, साका-संवत् चलाया था पर उस पर जो इस नई चोट का आतंक जमा तो वह उसके सामने पल भर न टिक सका। उस काल के राजाओं में विलासिता इतनी घुस गई थी कि सिवाय काव्य-विनोद के और कुछ कर सकना उनके लिए सम्भव न था। स्वयं पृथ्वीराज की अधिकतर लड़ाइयाँ लड़कियाँ छीनने और भगाने के लिए हुई थीं। लक्ष्मणसेन का राजकवि जयदेव संस्कृत का मधुरतम कवि था। वह वैष्णव था और उसका 'गीतगोविन्द' संस्कृत साहित्य में गेयता और लालित्य में अपना सानी नहीं रखता। उसी राजसभा में वह धोयी कवि भी हुआ जिसने 'मेघदूत' की नकल में अपना 'पवनदूत' लिखा।

साहित्य और कला

मध्यकाल का साहित्य संस्कृत और प्राकृत दोनों में लिखा गया।

संस्कृत के महान् कवियों में दण्डी, भारवि और माघ हुए। दण्डी ने 'दश-कुमारचरित' लिखा, भारवि ने 'किरातार्जुनीय' और माघ ने 'शिशुपाल-वध'। किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध संस्कृत के प्रधान महाकाव्यों में माने जाते हैं। ललित साहित्य के अतिरिक्त अलंकार आदि काफ़ी मात्रा में लिखे गए। कश्मीरी पंडितों ने विशेषकर उस दिशा में प्रयास किए। दण्डी दक्षिण के थे पर उन्होंने भी अलंकार-शास्त्र का अच्छा निरूपण किया। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' लिखकर आलोचना-शास्त्र की नींव मज़बूत की। रुद्रट, भामह, कैय्यट, मम्मट, अभिनवगुप्ताचार्य आदि ने उस दिशा में अनेक ग्रन्थ लिखे। जिस नाट्य-शास्त्र का प्राचीन काल में भरतमुनि ने आरम्भ किया था, उस दिशा में भी पुस्तकें लिखी गईं। पिछले काल में कश्मीर का प्रसिद्ध इतिहास 'राजतरंगिणी' कल्हण ने लिखी। क्षेमेन्द्र, विल्हण आदि ने भी साहित्य को अपनी कृतियों से सहारा दिया। ज्योतिष, गणित, व्यवहार (कानून), मन्दिर-निर्माण, शिल्प आदि पर हज़ारों ग्रंथ लिखे गए। वह काल इतना मौलिक चिन्तन का न था, जितना व्याख्या का था। पर व्याख्या ऐसी कि उसने अपनी मौलिकता से शास्त्र का स्थान ले लिया। स्मृतियों के ऊपर लिखे गए जीमूत-वाहन और ज्ञानेश्वर के 'दाय भाग' और 'मिताक्षरा' ऐसी ही व्याख्याएँ थीं, जिन्होंने मूल स्मृतियों को अपनी शक्ति से ढक दिया। इसी प्रकार के ग्रंथ मीमांसा और वेदांतसूत्रों पर कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने लिखे। दोनों नवीं सदी ई० के आस-पास के महान् विचारक और व्याख्याता थे और उन्होंने व्याख्यान और शास्त्रार्थ द्वारा बौद्धों और जैनों को परास्त कर उनके धर्मों की जड़ इस देश में हिला दी। जैसे राजा दिग्विजय के लिए निकलते थे, वैसे ही वे दोनों आचार्य भी अपने विचारों की दिग्विजय के लिए निकले थे। दोनों समकालीन थे। कुमारिल शंकर से तनिक बड़े थे। शंकर ने वेदांत का प्रचार किया, ब्रह्म मात्र को सत्य और जगत् को मिथ्या माना। उनकी काशी-विजय की कथा बड़ी मनोरंजक है। कहते हैं कि वहाँ मण्डनमिश्र नाम का एक

महान् पंडित रहता था, जिसका सारा वातावरण ज्ञानमय था। उसके घर की शुक-सारिकाएँ तक वेदों के मंत्र और श्लोक तक पढ़ती थीं। उसकी पत्नी बड़ी विदुषी थी। शंकर ने मण्डनमिश्र को तो परास्त कर दिया पर उसकी स्त्री के प्रश्नों के सामने वे निरुत्तर हो गए। शंकर परम शैव थे और उन्होंने भारत की चारों सीमाओं पर चार शैव मठ स्थापित किए। शंकर और कुमारिल की चोट से जो बौद्ध बच रहे, उन्हें मुसलमानों ने नष्ट कर दिया। कुछ बौद्ध, जो फिर भी बच रहे, दक्षिण चले गए। कुछ तिब्बत, नैपाल और लंका।

जैनों का अधिकतर साहित्य प्राकृतों में लिखा गया और उनके बड़े-बड़े ग्रंथ इसी मध्यकाल में प्रस्तुत हुए। गुजरात और दक्षिणी राजपूताना और दक्षिण भारत में उनके कुछ केन्द्र बने। गुजरात में जो चित्रकला की एक नई शैली चली, वह इन्हीं जैनों के कल्प-सूत्रों को सचित्र करने में उपयुक्त हुई और उसका उदाहरण हमें विशेषकर जैनों की ही हस्तलिपियों में मिलते हैं। बौद्ध-धर्म ने धीरे-धीरे देश से निकलकर विदेशों में शरण ली पर जैन-धर्म अपने तप और अहिंसा पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देने के कारण और उसके हिमायती और प्रचारक शक्तिमान राजा न होने से उसे बाहर सफलता न मिल सकी। भारत की कुछ धनी व्यापारी जातियों में ही उसका प्रचार आज बच रहा है। हिन्दू-धर्म उत्कर्ष पर था और उसके देवी-देवता सर्वत्र पूजे जाते थे।

कला

उत्तर-मध्य-युग की मूर्ति-कला महत्त्व की नहीं। गुप्तकाल के बाद लगातार उसका ह्रास होता गया। हाँ, जावा आदि के बोरोबुदुर, प्रम्बनम् आदि में निश्चय वह कला उन्नत रही। अपने देश में पिछले काल में मूर्तियाँ मन्दिरों के ही अलंकरण समझी गईं और अधिकतर उनका उपयोग मन्दिरों को बाहर से सजाने में हुआ। इन मंदिरों का ही यहाँ कुछ वर्णन करना उचित होगा। मन्दिर उस काल, विशेषकर ९०० और १२०० ईस्वी के बीच या दक्षिण में उसके भी बाद १७वीं

सदी तक, तीन शैलियों के बने। इनमें पहली का नाम नागर, दूसरी का वेसर और तीसरी का नाम है द्राविड़। नागर शैली उत्तर-भारत के मन्दिरों की शैली है, जिनके चौकोर मध्य से पिरामिडनुमा शिखर ऊपर उठते और पतले होते चले जाते हैं। द्राविड़ शैली दक्षिण भारत के मन्दिरों की शैली थी जो तारानुमा आधार पर बनती थी और ऊपर मंज़िल पर मंज़िल बनाती चली जाती थी, और चोटी जिसकी पीपानुमा होती है। दक्षिण के मन्दिर बड़े विशाल होते हैं। एक बहुत बड़े आँगन से घिरे होते हैं जिसमें भक्तों के पैर आदि धोने के लिये तालाब होता है, अनेक छोटे-बड़े देव-मन्दिर होते हैं, और बाहर प्रधान मन्दिर के शिखर-सा ऊँचा द्वार का भी शिखर होता है। उस द्वार को गोपुरम् कहते हैं। जहाँ नागर मन्दिर अकेले होते हैं, वहाँ दक्षिण के द्राविड़ मन्दिर अनेक मन्दिरों के सटे हुए समूह होते हैं। वेसर शैली नागर और द्राविड़ शैलियों के मिलने से बनी है। और दोनों के सन्धिस्थान पर दक्षिण की भूमि पर उस शैली के मन्दिर बने हैं। उनका आधार तो अधिकतर द्राविड़ शैली का होता है और प्लान नागर शैली का। उसका शिखर छोटा होता है और अधिकतर आँवले की शक्ल का गोल। उस काल के उत्तर-भारत के मन्दिरों के तीन समूह बड़े अद्भुत और सुन्दर हैं। इनमें से एक तो उड़ीसा में है, भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी में, दूसरा, बुंदेलखण्ड के खजुराहो में, और तीसरा माउन्ट आबू पर। भुवनेश्वर के विशाल और अद्भुत मन्दिर, जिनपर एक से एक सुन्दर मूर्तियाँ बनी हुई हैं, शिव के हैं। थोड़ी दूरी पर कोणार्क में सूर्य का मन्दिर है जिसके ग्रहों और घोड़ों की मूर्तियों, रथ के चक्कों तक में अद्भुत शक्ति और गति है। पुरी का मन्दिर जगन्नाथ का है, विष्णु के उस अवतार का जो बुद्ध में हुआ था। उसके आँगन के भीतर छुआछूत नहीं मानी जाती क्योंकि बुद्ध ने वर्ण-धर्म को स्वीकार नहीं किया था। उड़ीसा के इन सारे मन्दिरों पर तांत्रिकों और वज्रयानी सिद्धों आदि के प्रभाव से सैकड़ों शृंगारिक मूर्तियाँ बनी हुई हैं। ये मूर्तियाँ खजुराहो के मन्दिरों

पर भी हैं। खजुराहो का विशाल प्रसिद्ध केन्दरीय महादेव का मन्दिर भारत के सुन्दरतम मन्दिरों में से है। उसकी मानवीय और पशु-आकृतियाँ अद्भुत जीवन और खम लिये हुए हैं। वहाँ का चौसठ योगिनियों का मन्दिर भी असाधारण है। माउंट आबू पर दिलवारा के मन्दिर जैनों के हैं। वे संगमरमर के बने हैं और उनकी बनावट की विशालता और डिज़ाइनों की सुन्दरता अपूर्व है। छत, दीवारों या खम्भों पर एक इंच ज़मीन न छूटी है। जहाँ डिज़ाइनें न हों।

दक्षिण

दक्षिण भारत में पाण्ड्य, पल्लव, चोड और केरल के राज्य समय-समय पर उठे और इनमें से कम से कम पहले तीन तो अपने-अपने उन्नत काल में सारे दक्षिण पर छा गए। पल्लवों और चोलों के शासन का संक्षिप्त ब्यौरा देकर हम दक्षिण के साहित्य और कला पर विचार करेंगे।

पल्लवों के राजा धर्म-महाराज कहलाते थे। राजा शासन का केन्द्र था और मन्त्रियों की सहायता से हुकूमत करता था। उसका निजी सेक्रेटरी उसकी आज्ञाओं को कागज़ पर दर्ज कर लेता था। राज्य राष्ट्रों या मण्डलों में बँटा था जिनके शासक राजकुल या दूसरे अभिजात कुलों से नियुक्त होते थे। कोट्टम् और नाडि शासन के और छोटे इलाके थे, गाँव उसका निचला आधार था। ग्राम-सभा अपनी समितियों द्वारा उद्यानों, मन्दिरों, सरोवरों आदि का प्रबन्ध करती थी। सिंचाई, भूमि का नाप आदि भली प्रकार किए जाते थे। लगान के लिए परती और जुती ज़मीन का ब्यौरा रखा जाता था और खेतों की सीमाएँ खींच दी जाती थीं। राजा १८ प्रकार के कर वसूलने का अधिकारी था। घास, लकड़ी, साग, फूल, दूध, चीनी आदि पर कर लगाया जाता था। इसी प्रकार कोल्हू, करघा, बरतन, ऊन, ताड़ी, नमक, गाय, साँड, दलाली, अन्न आदि पर भी राजा अपना भाग पाता था।

पल्लवों का शासन चोडों के शासन से बहुत मिलता था और उन्हीं

के अनुरूप स्थापित हुआ था। चोडों ने विशाल साम्राज्य स्थापित किया था और उनके ग्राम का शासन भी अत्यन्त प्रशंसनीय था। राजा साम्राज्य का केन्द्र था और मन्त्रियों से शासन में सहायता लेता था। उसका निजी सेक्रेटरी आज्ञा-पत्र पर राजा के आदेश चढ़ा लेता था। राजराज प्रथम और राजेन्द्र प्रथम के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब तक वह निजी सेक्रेटरी उनकी आज्ञाएँ देख न लेता था, तब तक वे विभागों में भेजी न जा सकती थीं। साम्राज्य मण्डलों में बंटा था। कुछ मण्डल प्राचीन थे, कुछ जीते हुए और कुछ सामन्तों के अधिकार में। जहाँ के शासक सामन्त न थे, वहाँ राजकुल अथवा अभिजात कुलों से शासक नियुक्त किए जाते थे। सामन्त राजा अपने राज्यों का शासन आप करते थे। मण्डल भी अनेक इलाकों में बँटे थे, उनको कोट्टम् कहते थे और कोट्टम् से छोटे इलाकों को नाडु। नाडु के नीचे गाँवों के समूह थे। प्रत्येक समूह कुर्टम कहलाता था। शासन का सब से निचला आधार ग्राम था। उसी गाँव के शासन पर चोड-विधान का गौरव अवलम्बित है। गाँव इस प्रकार प्रायः स्वतन्त्र प्रजातन्त्र थे।

शासन में अनेक सभाओं और समितियों का हाथ था। ऊपर गिनाए इलाकों की अपनी-अपनी सभाएँ थीं। मण्डलम् की भी अपनी सभा थी जो और बातों के अलावा लगान की छूट का भी जब-तब प्रबन्ध करती थी। नाडु की जन-सभा को नाट्टर कहते थे और व्यापारियों के संघ को नगरत्तार। प्राचीन काल में उत्तर-भारत में जैसे देहात और नगरों की सभाएँ 'जनपद' और 'पौर' कहलाती थीं, वैसे ही दक्षिण में नाट्टर और नगरत्तार थे। इनके अतिरिक्त मज़दूरों, मिस्त्रियों और व्यापारियों के दूसरे संघ भी थे जो श्रेणी, पूग आदि कहलाते थे। कुछ गाँवों में सारे गाँव वालों की एक सभा होती थी जिसे 'ऊर' कहते थे। ब्राह्मण-गाँवों की सभा, सभा या महासभा कहलाती थी। जनपद के कार्यों में ये सभी प्रकार से स्वतन्त्र थीं। ये गाँवों की जुती या परती भूमि की स्वामी थीं जो बनों को काटकर खेती के लिए नई भूमि प्रस्तुत करतीं और किसानों

की सभी प्रकार से रक्षा करती थीं। लगान वही वसूलती थीं और लगान न चुका सकने पर खेत छीन लेने का उन्हें अधिकार था। देवता की भूमि को बेचना-ख़रीदना उन्हीं का काम था। वे ही उस काल आजकल के बैंकों का भी काम करती थीं। वे धर्मार्थ दान को उचित तौर से खर्च करतीं, अपराधियों को दण्ड देतीं और मठों के जरिए गाँव के बच्चों को संस्कृत और तमिल पढ़ाने का प्रबन्ध करती थीं। सभा की बैठकें मन्दिर, सार्वजनिक हाल या बड़े-बड़े वृक्षों के नीचे हुआ करती थीं। गाँव के भिन्न-भिन्न इन्तज़ामों के लिए (जैसे—उद्यान, सरोवर, मन्दिर, खेत, देवोत्तर सम्पत्ति) सभा की अलग-अलग समितियाँ थीं। समिति के सदस्य गाँव वाले चुनते थे। उस अर्थ गाँव कुटुम्बों में बँटा हुआ था। सदस्य की योग्यता, आयु, शिक्षा, आचरण, सामाजिक स्थिति आदि पर निर्भर करती थी। जितने उम्मीदवार होते उतने उनके नाम के टिकट एक बर्त्तन में डाल कर मिला दिए जाते फिर एक बालक उन्हें एक-एक कर निकालता जाता। गाँव का पुरोहित तब जितने सदस्यों की ज़रूरत होती, उतनी संख्या घोषित कर देता। उम्मीदवारों में अगर कोई विशेष दोषी होता तो उसका निर्वाचन रद्द कर दिया जाता। सभा आदि का एकाउंट बड़ी ईमानदारी से रखा जाता था जिसकी समय-समय पर जाँच होती रहती थी। सार्वजनिक धन की चोरी या गबन का दण्ड कठोर था।

समय-समय पर भूमि नाप ली जाती थी और खेतों की चौहद्दी में, उनके मालिकों के नाम के रजिस्ट्रों में दर्ज कर ली जाती थी। पहले भूमि की नाप १६ और १८ बित्तों के लट्ठों से होती थी, फिर कुलोत्तुंग प्रथम की आज्ञानुसार उसके चरण की लम्बाई इस माप का स्टैन्डर्ड बन गई। राज्य की आय के मुख्य आधार खेत ही थे। साधारण तौर से लगान उपज का छठा भाग था। पर सिंचाई की सुविधा या अच्छी उपज के कारण लगान की दर बढ़ती-घटती रहती थी। अकाल या बाढ़ के कारण लगान में छूट भी मिलती थी। अन्न के तीन मन का एक 'कलम्' कहलाता था। सोने के सिक्के 'कशु' कहलाते थे। सुविधावश

इनमें से एक अथवा दोनों द्वारा लगान चुकाया जा सकता था। भूमि-कर के अलावा अन्य कर भी थे, जो करघों, कोल्हुओं, बिकने वाली चीज़ों, बटखरों, बाज़ारों, पशुओं, सरोवरों, घाटों, सुनारों आदि पर लगते थे। इन अनेक ज़रियों से जो आय होती थी, वह राजा और उसके दरबार, शासन, सेना, नगरों, मन्दिरों, राजमार्गों, नहरों और सार्वजनिक इमारतों पर ख़र्च होती थी।

चोडों की सेना बड़ी शक्तिमान् थी। उसी सेना के बल पर वे एक बार बंगाल तक जा पहुँचे थे, लंका जीत लिया था और मलय द्वीप-समूह के अनेक द्वीप जीत लिए थे। सेना कई भागों में विभक्त थी, जैसे—धनुर्धरों की सेना, पदातियों की, घुड़सवारों और हाथियों की। उनके पास जहाज़ी बेड़ा भी था जिससे वे समुद्र लाँघ कर टापुओं को जीत सके। सेना का बराबर शिक्षण और निरीक्षण होता रहता था और वह राज्य के भिन्न-भिन्न दुर्गों और छावनियों में रखी जाती थी।

पल्लवों की ही भाँति चोड राजाओं ने भी खेतों की सिंचाई का पूरा प्रबन्ध किया था। कुएं, बावलियाँ और तालाब तो खुदे ही, नदियों की धारा रोककर उनसे छोटी-छोटी नहरें भी निकाली गईं। जब-तब नदियों का जल रोककर झीलें भी बना दी जाती थीं।

साहित्य, धर्म और कला

दक्षिण का तमिल साहित्य संस्कृत की ही भांति बहुत प्राचीन है और उसके अनेक ग्रंथ तो ई० सदियों के आरम्भ के काफ़ी पहले ही लिख डाले गए थे। तमिल का प्राचीन साहित्य तीन संग्रहों में एकत्र है। उन संग्रहों को 'संघम्' कहते हैं। संघम् साहित्य और अन्य अनेक ग्रंथों से तमिल बड़ा समृद्ध माना जाता है। कुछ काल बाद तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भी अपने-अपने साहित्यों के साथ प्रकट हुईं और समृद्ध हुईं। ये चारों भाषाएँ द्राविड़ भाषाएँ कहलाती हैं और इनका विकास संस्कृत से भिन्न स्वतन्त्र आधार से हुआ है, यद्यपि संस्कृत शब्दों और साहित्य का योग इनको खूब मिला है। इनमें संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों

के अपने-अपने अनुवाद हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण में संस्कृत साहित्य की भी काफ़ी उन्नति हुई। पल्लव ब्राह्मण थे और उन्होंने संस्कृत का आदर बनाए रखा। उनके अभिलेख भी संस्कृत में लिखे गए। कांची बहुत प्राचीन काल से ही विद्या का केन्द्र था। दिङ्नाग चौथी सदी ई० के मध्य ही वहाँ अपने व्याख्यानों के लिए गया था। कदम्ब राज-कुल के मूल पुरुष मयूरशर्मन् की शिक्षा-दीक्षा वहीं हुई थी। काँची के दरबार में भारवि और दण्डी दोनों गए थे। दण्डी तो वहाँ रहा ही था। महेन्द्र-वर्मन् ने 'मत्तविलासप्रहसन' की रचना की थी।

दक्षिण के मन्दिरों के प्रति हम पहले संकेत कर आए हैं। चोडों ने बड़े-बड़े मन्दिर बनवाए। मन्दिर उस काल के जीवन में जनता के अनेक कार्य साधते थे। आध्यात्मिक जीवन के तो केन्द्र वे थे ही, अनेक सामाजिक कार्य भी वहीं होते थे। वेद, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष आदि वहाँ पढ़ाए जाते थे। अनेक मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बन गए थे। धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर उनमें नाटक खेले जाते थे और इसी अर्थ उनमें 'रंग' (रंगमंच) बने होते थे। मन्दिर नाच-गान के भी केन्द्र थे। कुछ अजब नहीं कि उसी बुनियाद से देवदासी-प्रथा का आरम्भ हुआ, जिसने समाज के एक अंग को घृणित कर डाला।

सैकड़ों विशाल मन्दिर विष्णु और शिव की मूर्त्तियों की स्थापना के लिए दक्षिण में बने। विस्तृत आँगन, ऊँचे शिखर, अलंकृत गोपुर वाले चोड राजाओं के मन्दिर अपनी आन-बान में निराले हुए। विशालता और दृढ़ता में तंजोर और काडहस्ती के मन्दिर बेजोड़ हैं। राजराज प्रथम के बनवाए, तंजोर के राजराजेश्वर मन्दिर का विमान १६० फुट ऊँचा है। उसका आधार जो ८२ वर्ग फुट का है, १३ मंज़िलों में बँटा हुआ है। विमान का २५ फुट ऊँचा शिखर एक ही चट्टान का बना है जिसका वज़न ८० टन है। १६० फुट की ऊँचाई पर ८० टन भारी शिला को चढ़ा ले जाना असाधारण बात है। मन्दिरों में राजा-रानी की मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं। पहाड़ में कटे या ईंट-पत्थर के बने मन्दिरों के

अतिरिक्त हज़ारों मूर्त्तियाँ दक्षिण में पीतल आदि धातुओं की बनीं। इन में ताँडव-नृत्य करते हुए नटराज शिव की मूर्त्तियाँ संसार की कला में अद्भुत स्थान रखती हैं और उनकी प्रशंसा जगत् के बड़े से बड़े कला-पारखियों ने जी खोलकर की है।

सांस्कृतिक आन्दोलन

संस्कृति-सम्बन्धी अनेक आन्दोलन दक्षिण में हुए। एक से एक महान् शैव और वैष्णव पंडित दक्षिण में हुए और वे अपने धर्म के प्रचार के लिए सर्वत्र घूमते फिरे। शंकर, बासव, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि उसी परम्परा के थे। शंकर अत्यन्त मेधावी और कुछ कठोर भी थे पर वैष्णवों की नीति तो बड़ी उदार थी। दक्षिण से ही विशेषतः मध्य और उत्तर-मध्यकाल में वैष्णव-भक्तों का आन्दोलन चला, जिसने उत्तर-भारत पर भी अपना गहरा असर डाला। बहुत प्राचीन काल से वैष्णव-भक्त-परम्परा में वर्ण-भेद कमज़ोर पड़ गया था। बौद्ध-संघ के आचार-विचार ने वैष्णवों को और वैष्णवों ने उसे प्रभावित किया था। बौद्धों ने उन्हें जात-पात से ऊपर उठना सिखाया था और उन्होंने उसे निजी-देवता विष्णु के रूप में बुद्ध दिया था और पीछे उसे राम-कृष्ण की अपनी परम्परा में बिठा लिया था। इस प्रकार वैष्णवों में धीरे-धीरे बराबरी का विचार बढ़ता गया, छुआछूत का विचार कम होता गया और जगन्नाथपुरी के मन्दिर के भीतर तो छुआछूत को सभी प्रकार से उठा दिया। उसी परम्परा में कबीर के गुरु रामानन्द हुए और उसी परम्परा में चैतन्य हुए। पश्चिम भारत में भी ज्ञानेश्वर और नरसी मेहता और पीछे समर्थ गुरु रामदास आदि हुए, जिन्होंने उस परम्परा को जीवित रखा।

दक्षिण से उस लहर के उठने का एक और भी विशेष कारण था। वह था मुसलमानों का इस देश में आना। कम लोग इसके महत्व को समझ पाते हैं क्योंकि उनका विचार है कि भारत पर मुसलमानों का

प्रभाव १२ वीं सदी के शहाबुद्दीन गोरी के हमले के बाद ही पड़ा। पर शायद वे नहीं जानते कि अरबों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ सारे मालावार तट पर उनके मुसलमान होने के पहले ही बस चुकी थीं और मलिक काफ़ूर के हमले के सैकड़ों वर्ष पहले दक्षिण के पश्चिमी और पूर्वी दोनों तटों पर अनेकानेक मस्जिदें खड़ी हो चुकी थीं। मुहम्मद के मरने के बाद ही जो प्रचार का आन्दोलन चला तो सैकड़ों महत्वपूर्ण मुसलमान वक्ता दक्षिण में भर गए। सारा समुद्र-तट मुहम्मद से प्रायः हज़ार वर्ष पहले से ही अरबों ने अपने जहाज़ों से घेर रखा था और अब मुसलमान होने के बाद उनमें यह दूसरी लहर उठी। मालावार के तट पर तो उनका इतना प्रभाव हुआ कि क्रंगनूर के राजा ज़मूरिन की पालकी के बराबर शेख की पालकी चलने लगी और एक पीढ़ी में तो राजा ज़मूरिन स्वयं मुसलमान हो गया। अरब मोपलों की कितनी बड़ी संख्या मालावार के गाँवों में रहती है, यह कहना न होगा। सोमनाथ के मन्दिर की सेना में महमूद गज़नी के पहले हज़ारों मुसलमान सैनिक भर्ती थे। इसी प्रकार जैसे पांड्य राजाओं की शरीर-रक्षक सेना में रोमन सिपाही थे, वैसे ही उन राजाओं की सेना में हज़ारों मुसलमान सिपाही थे। मदुरा, त्रिचनापली आदि में उनकी अनेक बस्तियाँ बस चुकी थीं और पांड्य राजाओं के तो मुसलमान मन्त्री तक बन गए। कुछ अजब नहीं कि भारतीय धर्मों में सुधार की आवाज़ पहले इस सम्पर्क के कारण ही दक्षिण में उठी हो और रामानुज, बासव आदि विशेष प्रयत्नशील हो उठे हों। कम-से-कम ऊँच-नीच, जाति-वर्ण, छूत-अछूत के भेद-भाव निश्चय उस सम्पर्क से वैष्णव प्रचारकों में कम हुए। मुसलमानों के समाज में बराबरी का विचार और भाईचारा अपना असर आस-पास की परिस्थितियों पर डाले बगैर नहीं रह सकता था। इस सम्बन्ध में दूसरी बात एकेश्वरवाद से सम्बन्ध रखती थी। शैवों और वैष्णवों दोनों ने अपने शिव या विष्णु को और देवी-देवताओं के मुकाबले न केवल महान्

माना बल्कि बड़ी कट्टरता से अपने आराध्य शिव या विष्णु को उनके ऊपर बिठाया। कुछ अजब नहीं कि सारे दक्षिण में फिरने वाले मुसलमान मुफ़्तियों के कट्टर एकेश्वरवाद का उन पर असर पड़ा हो। स्वयं शंकर ने उस दिशा में ब्रह्म या शिव के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। स्वयं उनको भी यदि उधर से कुछ प्रेरणा मिली हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि इस देश की संस्कृति का सब से ऊँचा आदर्श दूसरों की संस्कृति को पचा लेने का रहा है।

चौदहवाँ अध्याय

१२०० ई०—१५०० ई०

पहले हमने संस्कृतियों के आपसी संघर्ष की बात कही है, और यह भी कि जैसे उनका एक-दूसरी से टकराने पर संघर्ष ज़रूरी था, वैसे ही आपस में घुल-मिल जाना भी ज़रूरी था, और कि भारत की संस्कृति का बड़प्पन अपनी राह आने वाली संस्कृतियों को पचा जाना रहा है। अनेक जातियां आईं और उनको हिन्दू-समाज ने पचा लिया पर मुसलमानों को वह न पचा सका। इसका कारण क्या है ? इसका सबसे बड़ा कारण तो यह है कि जितनी भी जातियाँ पहले आईं, उनके पास अपना कोई ख़ास धर्म, दर्शन, जीवन-व्यवस्था, साहित्य आदि कुछ न था, पर मुसलमानों का अपना बड़ा असाधारण धर्म था, जिसके प्रचार की उनमें बड़ी लगन थी, उनका अपना जीवन-दर्शन था, विरासत के अपने नियम थे, विवाह आदि के अपने कानून थे, कुरान, हदीस और शरियत थी और इन सबसे ऊपर उनकी सामाजिक व्यवस्था में वह चीज़ थी, जिसे दुनियां की किसी जाति ने मानव-इतिहास में कभी न जाना—व्यावहारिक भाई-चारा, केवल किताबी नहीं, प्रयोग-प्रधान, और मनुष्य की मर्यादा थी। इसी कारण मुसलमान इस देश की व्यवस्था में डूब न सके।

जो लोग सभी मुसलमानों को एक साथ बुरा बताते हैं, वह यह भूल जाते हैं कि शुरू के हमलों में अरब कम थे, तुर्क, पठान और एशिया के वे खूंखार लोग अधिक थे, जिन्होंने भारत की लूट के लिये इस्लाम के झंडे को अपना साधन बनाया था और इस प्रकार अपनी अराजक और

असहिष्णु नीति से अरबों को बदनाम किया था। अरब संसार की जातियों में सभ्यता की मशाल जलाने वालों में पहले थे। ८३० ई० में उन्होंने बग़दाद में दूसरी भाषाओं से अनुवाद करने के लिए अपना कालेज खड़ा किया। उससे बहुत पहले उन्होंने मरते हुए ग्रीक-दर्शन, साहित्य और विज्ञान की रक्षा कर ली थी। अब उन्होंने भारत से ज्योतिष, गणित और चिकित्सा लेकर, यूनान से उसके अफ़लातून और अरस्तू लेकर, और चीन से प्रेस, कागज़ और बारूद लेकर यूरोप के जंगली बाशिन्दों को शिक्षित किया। कागज़ और बारूद का पहले-पहल भारत में भी प्रचार मुसलमानों ने ही किया। अरबों की सहिष्णु नीति इस देश में सदियों चलती रही थी। बाद में आने वाले मुसलमानों ने जरूर उस नीति को छोड़ दिया फिर भी भारतीय संस्कृति को उनकी देन कुछ कम नहीं। संस्कृति, सामाजिक विद्रोह, भाषा, साहित्य, कला, धार्मिक नवचिन्तन, सभी क्षेत्रों पर उन्होंने इस देश में अपना प्रभाव डाला, और उससे इस देश की संस्कृति एक नई दिशा में विकसित हुई। उसका अध्ययन हम दो युगों में बाँट सकते हैं—१५०० ई० के पहले और पीछे। नीचे हम उन पर ही विचार करेंगे।

राजनीति

दिल्ली अब भारत की राजधानी थी और उसने कन्नौज का स्थान ले लिया था। मुसलमानों की सल्तनत वहीं कायम हुई। शहाबुद्दीन के हमले का उद्देश्य महमूद के हमलों की भाँति केवल लूट करना न था। उसका इरादा भारत में मुस्लिम सल्तनत क़ायम करना था और वह उसने कर दिया पर स्वयं वह ज़िन्दा न रह सका और भारत से लौटते समय राह में ही पंजाब में मार डाला गया। उसके बाद उसका ग़ुलाम कुतबुद्दीन ऐबक दिल्ली के तख़्त पर बैठा और उसने इस देश में ग़ुलाम-वंश की नींव डाली।

तब सारे एशिया पर ग़ुलामों का राज था। एक के बाद एक लायक ग़ुलाम मेधावी सुल्तान एशिया की राजनीति के संचालक हुए। ग़ुलाम

बनाना उस काल ग्राम क़ायदा हो गया था। हिन्दू समाज में शूद्रों और अछूतों की स्थिति होने के कारण गुलामों की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ी थी पर इस काल सारे एशिया में गुलामों के बाज़ार थे। ऐबक, अल्तमश, बलबन आदि गुलाम ही थे। उनके बाद पठान-अफ़गान आये, ख़िलजी, तुग़लक, सैयद और लोधी। इसी बीच चंग़ेज़, तैमूर और अनेक बार मंगोलों के भी हमले हुए, जिससे देश वीरान हो गया।

अधिकतर मुसलमान राजाओं ने हिन्दुओं को केवल शासित के रूप में देखा और उन पर अधिकाधिक और विशेष कर लगाए। जब-तब सुल्तान के समझदार होने से उनके प्रति सलूक अच्छा हो जाया करता था, वरना उन्हें अक्सर ग़ैर-मुस्लिम होने तक का कर भी देना होता था। खिलजी सुल्तानों के समय उनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। और मज़बूत सुल्तानों के शासन के अन्त में जब कमज़ोर सुल्तान दिल्ली की गद्दी पर बैठते तब तो क्या हिन्दू क्या मुसलमान, सबकी एक-सी दुर्दशा होती और देश में अराजकता छा जाती, प्रान्त आज़ाद हो जाते, वहाँ अपनी-अपनी सल्तनतें क़ायम हो जातीं। इसी स्थिति में जौनपुर, बिहार, बंगाल, मालवा, गुजरात, बीजापुर, बहमनी, अहमदनगर, हैदराबाद आदि की पहले-पीछे रियासतें क़ायम हुईं। कुछ हिन्दू रियासतें भी खड़ी और प्रबल हुईं। दक्षिण में विजयनगर, मेवाड़ में गुहिलौत, उड़ीसा, कामरूप (आसाम) प्रबल थे। कुछ दिनों बाद मुसलमानों की सम्मिलित चोट ने विजयनगर का विशाल हिन्दू राज तोड़ डाला। कुछ पहले ही अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि, मालवा, गुजरात पर अधिकार कर लिया था और उसके सेनापति मलिक क़ाफ़ूर ने रामेश्वरम् तक देश को रौंद डाला था। मुहम्मद तुग़लक ने देवगिरि को ही दौलताबाद नाम देकर अपनी राजधानी बनाना चाहा। उसने दिल्ली की प्रजा को वहाँ भेज भी दिया पर धन-जन की अत्यन्त हानि के बाद उसे वहाँ से दिल्ली वापस लौटना पड़ा। अरब यात्री इब्नबतूता ने जो उस काल का चित्र खींचा है, वह रोंगटे खड़े कर देता है। अन्त में लोधी सुल्तान इब्राहिम

को मार चंगेज़ और तैमूर के वंशज बाबर ने दिल्ली जीत कर भारत में मुग़ल-साम्राज्य की नींव डाली।

धर्म

उस काल भारत में दो देशव्यापी धर्म थे—हिन्दू और इस्लाम। इस्लाम अपनी नई विरासत लिए इस देश में आया था पर वह भी अधिकतर यहीं के रंग में रंग गया था। उसके विश्वास-क्रियाओं में अनेक हिन्दू-रीतियाँ घुस आईं जो स्वाभाविक ही था। ईरान में वैसे भी तसव्वुफ़ (सूफ़ी-धर्म) का ज़ोर था जो सारे एशिया में धीरे-धीरे फैलता जा रहा था। इस्लाम के साथ-साथ सूफ़ियों ने भी भारत में प्रवेश किया और अनेक प्रकार से हिन्दू-धर्म और समाज को प्रभावित किया। वे वेदान्त से भी प्रभावित थे और सब में एक ही खुदा का वास मान, अपने को भी खुदा मानने लगे थे। प्यार उनमें इतना था कि अपने शत्रुओं को भी उन्होंने मित्र जाना और इस्लाम के जुलमों को सहते हुए अनेक कुरबानियाँ कीं। उनके सम्बन्ध से हिन्दू-विचारों में भी बड़ी उदारता आई। नामदेव, रामदास, चैतन्य, कबीर, रैदास, नानक उसी परम्परा में हुए। कुछ पहले ही आठवीं सदी से ही वस्तुतः गुप्त-साम्राज्य की स्मार्त-पद्धति टूटने के बाद ही तांत्रिक, शाक्त, वज्रयानी सिद्धों ने स्मृतियों का विरोध कर उनके प्रति लोगों की आस्था डिगा दी थी। उनके अपने ही सहजिया, मरमिया, औघड़, कापालिक आदि अनेक पन्थ चल पड़े जिन्होंने इन्द्रियों को उनके विषयों से रोककर नहीं उन्हें भोगकर मोक्ष लेना संभव माना था। नाथ और निरंजन संप्रदाय चले जिन्होंने निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा की और उस अलख को दिखा देने वाले गुरु को अपनी क्रियाओं-विश्वासों में ऊँचा स्थान दिया। गुरु गोरखनाथ इन्हीं सम्प्रदायों से उठे। धीरे-धीरे सगुण ब्रह्म का भी प्राबल्य हुआ। नामदास, रामदास, चैतन्य, रैदास, कबीर, नानक आदि सगुण ब्रह्म के ही उपासक थे। अधिकतर ये लोग नीची जातियों और नीचले सामाजिक स्तरों से उठे थे और वर्ण-धर्म की चोटों को जानते थे। उन्होंने, विशेषकर कबीर

और नानक ने तो वर्ण-धर्म पर बड़े फ़िकरे कसे। रामदास ने तो अयोध्या में हज़ारों हिन्दू से मुसलमान हुई जनता को शुद्धकर फिर से हिन्दू बनाया। उनके शिष्य हिन्दू-मुसलमान दोनों थे। कबीर स्वयं जुलाहे थे और गृहस्थ रहकर ही अपने उदार धर्म का प्रचार करते थे। कबीर इस सम्मिलित हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के सबसे सुन्दर परिणाम थे। जाति-पाँति पर उन्होंने गहरा कुठाराघात किया और हिन्दू-मुसलमान में कोई अन्तर न रखा। ये लोग सन्त और भक्त कहलाते थे। इसी काल में प्रसिद्ध सूफ़ी कवि कुतबन हुए। इस युग के अन्त में, और कुछ ही काल बाद अगले युग के आरम्भ में, १५०० ई० सदी के कुछ बाद, मंझन और हिन्दी के महान् कवि मलिक मुहम्मद जायसी हुए। हिन्दू-मुसलमानों में इन सूफ़ियों ने अद्भुत सद्भाव उत्पन्न कर दिया। हिन्दू-धर्म और समाज में एक नई चेतना, नई उदारता आई। हिन्दू-मुसलमान दोनों के सन्त ग़ज़ब की सूझ और साहस से दोनों धर्मों की रुखाइयों को मिटाकर, दोनों की सम्मिलित विरासत अपनी साधना और लग्न से खड़ी करने लगे।

साहित्य

साहित्य ने अब एक नया रुख़ लिया। प्राकृतों का स्थान प्रान्तों में जन-बोलियों ने ले लिया था। दक्षिण में तो तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम में जन-बोली और साहित्य की भाषा में कभी इतना अन्तर ही न रहा था पर उत्तर-भारत से भी प्राकृतों और अपभ्रंशों का युग समाप्त हो गया था और उनका स्थान जन-बोलियों ने अब ले लिया था। मराठी, गुजराती, बंगाली, खड़ी बोली हिन्दी, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि जन-बोलियों में ही अब सरल हृदय पर सीधी चोट करने वाला साहित्य लिखा जाने लगा था। सन्त कवि अधिकतर इन्हीं बोलियों में लिखते थे। संस्कृत की रचनायें अब भी होती थीं पर अधिकतर वह व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, गणित, संगीत के क्षेत्र में। इसी काल मुसलमानों के योग से भारतीय ज्योतिष के क्षेत्र में फ़ारसी से एक विशेष सिद्धान्त 'ताजिकी' का प्रवेश हुआ। भारत की उत्तरी सीमा

पर ही ताजिक मुसलमान रहते हैं। उनका देश अब सोवियत रूस में है। उनकी ही भाषा ताजिकी से इस शास्त्र का अनुवाद हुआ था जिससे उसका यह नाम पड़ा।

उसी काल विद्यापति ने मैथिली में अपने पद लिखे जो मिठास में हिंदी-कविता में अपना जोड़ नहीं रखते। उस कवि का नाम ही मैथिल-कोकिल पड़ गया। उसके काव्य ने सारे उत्तरी भारत के साहित्य को प्रभावित किया। बंगाल में उसके अनेक अनुकरण हुए।

खड़ी बोली का आरम्भ कब का हो गया था। बहुत पहले से ही सिद्धों की दोहों की भाषा में हिन्दी बोल उठी थी, अब मुसलमानों के आने के बाद तो उसका शुद्ध खड़ी बोली का रूप खड़ा हो गया। अमीर खुसरो ने हिंदी खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में लिखा। उस काल की भाषा-संबंधी सबसे बड़ी उपलब्धि उर्दू हुई। वह हिन्दू-मुसलमानों की बनाई हुई सम्मिलित विरासत है। वह इस देश के बाहर कहीं नहीं बोली जाती। वह भाषा इस देश की है, हिंदी की ही एक शैली, पर ऐसी शैली जिसकी साहित्यिक परम्परा और सांस्कृतिक स्रोत अपने हैं, निजी। उसे हिंदू-मुसलमान दोनों साहित्यकारों ने भरा-पूरा जैसे दोनों ने हिंदी को भी अपना सर्वस्व दिया। शीघ्र कुतबन, मंझन और मलिक मुहम्मद जायसी हिंदी के कवि मान लिए गए। जायसी का पद्मावत तो हिंदी साहित्य (अवधी) के अनमोल रत्नों में से माना जाता है।

कला

हिन्दू-मुसलमानों की मिली-जुली संस्कृति का एक परिणाम यहाँ की कला की नई विरासत हुआ। मूर्तिकला तो निश्चय नष्ट हो गई, क्योंकि इस्लाम की कट्टरता और उसके अनेक असहिष्णु सुल्तानों की अनुदारता ने उसकी राह में अनन्त कठिनाइयाँ डाल दीं। पर भवन-निर्माण-कला पर नई संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ा। मुसलमान सुल्तान ग़ज़ब के निर्माता थे। उन्होंने यहाँ अद्भुत इमारतें, मस्जिदें, इमामबाड़े,

मक़बरे, किले आदि बनवाए। इनके बनाने में खास हाथ हिन्दू शिल्पियों का था। इस देश में मुसलमानों की विशेषकर कला के क्षेत्र में तो कोई अभी अपनी परम्परा बनी न थी, इससे उन्हें हिन्दू कारीगरों पर ही निर्भर करना पड़ा। इसी से शुरू की मुस्लिम इमारतें अधिकाधिक हिन्दू प्रभाव में आईं और उनके आकार-प्रकार अधिकाधिक हिन्दू-मन्दिरों और भवनों के-से हो गए। दिल्ली की कुतुब मस्जिद और मीनार, जौनपुर, बंगाल, मांडू (मालवा) और विशेषकर गुजरात की वास्तु (भवन-निर्माण) कला पर गहरा हिन्दू असर पड़ा। इसी प्रकार दक्षिण की मुसलमान रियासतों की इमारतों पर भी। भारत के बाहर के किसी देश में इतनी विशाल और सुन्दर मुस्लिम इमारतें न बनीं, जितनी इस देश में। इसका सबसे महत्व का कारण यह था कि इस देश में अपनी प्राचीन काल से चली आई अत्यन्त प्रौढ़ वास्तु-कला की परम्परा थी, जिसका लाभ कुतबुद्दीन, अल्तमश, अलाउद्दीन, फ़ीरोजशाह तुग़लक, जौनपुर, बंगाल, मालवा, गुजरात और दक्षिण के सुल्तानों को भरपूर हुआ। इसी काल उत्तर-मध्य-युग के उत्तरी भारत के विशाल मन्दिर भी खड़े हुए। दक्षिण के द्रविड़-मन्दिर तो अधिकतर इसी मुस्लिम काल और इसके बाद बने।

संगीत पर भी इस नई इस्लामी संस्कृति ने अपना गहरा प्रभाव डाला। प्राचीन शास्त्रीय संगीत की परम्परा अपनी कठिन राग-पद्धति से कुछ दुरूह हो गई थी। उसमें ध्वनि की प्रधानता हो गई थी, शब्द से उसका सम्बन्ध टूट गया था, या उसमें शब्द तो थे, पर भाषा न थी। भाषा उसे मुस्लिम संस्कार ने दी। आज जो हम भारतीय संगीत में इतना रस, इतना मर्म को छूलेने वाला आकर्षण पाते हैं, वह इसी मुस्लिम योग का परिणाम है। मुसलमान गायकों ने सारा का सारा हिन्दू शास्त्रीय राग-रागिनी-परिवार ले लिया और उसे अपनी सूझ और खोज से, लगन और निष्ठा से, तप और साधना से वह अलौकिक रूप दिया, जो उसका कभी न रहा था। अनेक नये राग हिन्दू-संगीत को मिले।

ख़याल, ग़ज़ल, ठुमरी, दादरा, क़व्वाली और बीसों नई तर्ज़ें भारत की प्राचीन परम्परा में दाख़िल हुईं। इसी प्रकार उसके बाजों में भी एक क्रान्ति उपस्थित हो गई। सितार, दिलरुबा, सारंगी, सवाब, तबला, शहनाई, रोशनचौकी आदि अनेकानेक बाजे और आर्केस्ट्रा मुसलमान गायकों और संगीत-साधकों ने भारत को दिए। प्रसिद्ध कवि ख़ुसरो ने ख़याल गाया और अनेक नए राग विकसित किए; उसी ने सितार और शायद तबला भी ईजाद किए। हुसेनशाह शर्की ने भी इसी प्रकार अनेक रागों की खोज की। कुछ आश्चर्य नहीं कि अधिकतर संगीत-शास्त्र के ग्रंथ संस्कृत भाषा में इसी मुस्लिम-युग में लिखे गए।

पन्द्रहवाँ अध्याय

१५०० ई०—१८०० ई०

राजनीति

इब्राहीम लोदी की नासमझी ने अपने दोस्तों तक को दुश्मन बना दिया। वैसे ही देश में अनेक ऐसी रियासतें क़ायम हो गई थीं, जो दिल्ली की सल्तनत से प्रबल और बड़ी थीं। बंगाल और बिहार के अफ़गान, जौनपुर के पठान, मालवा, गुजरात और बहमनी की शक्तिमान सत्ताएँ आपस में जूझ रही थीं। विजयनगर का दक्षिण का हिन्दू-साम्राज्य, जिसने हिन्दुओं की प्राचीन परम्परा में नए प्राण फूंके थे, सौ बरस से बहमनी सल्तनत से लोहा ले रहा था और एक दिन, कुछ ही बाद, मुसलमानों की सम्मिलित चोट से उसकी रीढ़ टूट गई, उसके प्रान्त बिखर गए और उसकी भूमि पर बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर, हैदराबाद आदि पाँच मुस्लिम रियासतें खड़ी हो गईं। हिन्दू-साम्राज्य का उठता हुआ सितारा डूब गया। दक्षिण में परमारों की भूमि पर मालवा के अफ़गान सुल्तानों का बोलबाला हुआ और उन्होंने भोज की धारा के पास मांडू को अपनी राजधानी बनाकर उसे इमारतों और झीलों से सजा दिया। गुजरात के सुल्तान भी अफ़गानों की ही नस्ल थे और पश्चिमी समुद्र तक उन्होंने अपनी शक्ति का साका चलाया। अक्सर मालवा और गुजरात के सुल्तान आपस में लड़ा करते थे। कभी एक दूसरे पर हावी होता, कभी दूसरा उस पर। और दोनों जब-तब अकेले मिलकर एक साथ पड़ोसी मेवाड़ के राजपूतों से टकरा जाते।

मेवाड़ के राजपूत उस काल भारत में सब से विशाल साम्राज्य के

दावेदार थे। बहुत पहले गुप्तों के कुछ ही काल बाद गुहिलोत राजकुल ने मेवाड़ को अपना आवास बनाया था और बाप्पा रावल की कीर्ति शीघ्र आसपास की सीमाओं में गूँजने लगी थी। चित्तौड़, जहाँ उन्होंने अपना गढ़ बनाया, इतिहास में अनजाना न था। बहुत पहले उसके पास ही माध्यमिका बसी थी जिसका उल्लेख दूसरी सदी ई० पू० में महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है और जिसे ग्रीक विजेता दिमित्रिय ने कभी घेरा था। उसका नाम आज नगरी है और वह चित्तौड़ से दूर नहीं। चित्तौड़ के सिसौदिया अपनी आन-बान में निराले थे, राजपूतों के सरताज, और हिन्दुओं की नाक, गो-ब्राह्मण के रक्षक और प्रतिपालक। उसी कुल ने बाद में हिन्दी को मीरा दी और देशप्रेमियों को प्रताप। राणा कुम्भ ने गुजरात और मालवा की सम्मिलित सेनाओं को बुरी तरह परास्त किया और उस जीत की यादगार में वह प्रसिद्ध स्तम्भ चित्तौड़गढ़ में खड़ा किया जो हिन्दू-कला का भी सुन्दर नमूना है। उसके पास ही कुछ ही काल पहले अलाउद्दीन के आक्रमण के समय पद्मिनि ने जौहर कर सतियों में अपना नाम उजागर किया था। राणा साँगा जब मेवाड़ की गद्दी पर बैठा तब उसके साम्राज्य की सीमाएँ काफ़ी बढ़ गई थीं और अनेक प्रदेश जीत कर उसने उसे एक ओर पंजाब तक, दूसरी ओर नर्बदा तक, तीसरी ओर समुद्र तक और चौथी ओर बुन्देलखण्ड और कालपी तक बढ़ा लिया। इस प्रकार उस काल के भारत का, मेवाड़ सब से बड़ा साम्राज्य था। आगे भी मेवाड़ ने अपने संघर्ष और बलिदानों से इतिहास में अमरता पाई। साँगा ने दो-दो बार इब्राहिम लोदी को हराकर दिल्ली सल्तनत को जीता पर यमुना को सीमा बना वह मेवाड़ में ही बैठा रहा और अब जो इब्राहीम ने अपने अफ़गानों से दुश्मनी की तो उनके साथ साँगा ने भी काबुल के मुगल बादशाह बाबर के पास अपने आदमी इसलिए भेजे कि वह भारत पर हमला करे और इब्राहिम से दिल्ली का तख़्त छीन ले।

बाबर आया और उसने दिल्ली का तख़्त छीन भी लिया। पर साँगा

को भी उसने अछूता न छोड़ा। बाबर चंगेज़ और तैमूर का वंशधर था और उसने अनेक बार फ़रगना में लोहे से लोहा बजाया था, अनेक बार उसने समरकन्द की अपनी पुश्तैनी रियासत पाई और खोई थी और अब उधर से मजबूर होकर हिन्दुकुश की छाया में काबुल की घाटी से हिन्दुस्तान पर ललचाई आँखें लगाए मौके के इन्तज़ार में था। मौका आया और उसने दिल्ली को जीत साँगा का दम भी सीकरी की लड़ाई में तोड़ दिया। फिर धीरे-धीरे बिहार, बंगाल, मालवा और गुजरात भी मुग़लों के हाथ आ गए। मुग़ल सल्तनत की नींव पड़ी, वह १८वीं सदी के शुरू तक जमी रही।

हुमायूँ बाबर का बेटा था जिसे बिहार के शेरशाह ने हिन्दुस्तान से निकाल बाहर किया और दिल्ली के तख़्त पर अधिकार कर लिया। यह पहला मौका था जब सूबे के किसी जवान ने उठकर दिल्ली के तख़्त पर अधिकार कर लिया था। शेरशाह सासाराम का रहने वाला था और गंगा के दोनों पार के भोजपुरियों से अपनी हरावल बनाए जो वह बिहार से निकला तो पंजाब और गुजरात, मालवा और दक्षिण के बाँके लड़ाकों को उसने धूल चटा दी और राजपूताने की वीर-प्रसविनी भूमि को रौंद डाला। उसी किसान की हुकूमत की सूझ का लाभ आज भी हम उठा रहे हैं। उसी के इन्तज़ाम से अकबर ने अपना शासन सुधारा। टोडरमल उसी की हुकूमत से अकबर के पास आया था। आज का रुपया, डाक, सड़कें, खेतों की माप-तौल और बन्दोबस्ती ज्यादातर शेरशाह की सूझ के ही परिणाम थे। मलिक मुहम्मद जायसी, जिसने पद्मावत लिखी, उसी की संरक्षा में था।

हुमायूँ शेरशाह के मरने के बाद लौटा पर खुद भी जी न सका और १३ साल का उसका बेटा अकबर दिल्ली के तख़्त पर बैठा। अफ़ग़ानों की ओर से हेमू विक्रमाजीत की उपाधि धारण कर, जो पहले भी राजा विदेशियों से लड़ते समय धारण करते आए थे, दिल्ली की ओर बढ़ा पर बैरमख़ाँ ने उसे हरा दिया और अकबर का उदार शासन शुरू हुआ।

अकबर ने गज़ब की सूझ से काम लिया। राजपूतों को उसने अपना मित्र बनाया, उनके कुलों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए और हिन्दू-मुसलमानों को उसने एक नज़र से देखा। पर वह अपनी उदार नीति में अपने ज़माने से सदियों आगे था और उसके वंशज उसकी नीति को निबाह न सके। जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगज़ेब आए। औरंगज़ेब ने तो हिन्दुओं से बड़ी दुश्मनी साधी, यहाँ तक कि सिक्खों का धार्मिक संगठन भी ख़ालसा बन गया और मराठों ने दक्षिण में उसे तबाह कर दिया। कभी शिवाजी की चोट सहता, कभी दक्षिणी मुस्लिम रियासतों को ज़ेर करता वह दक्षिण में ही पड़ा रहा और वहीं उसने समाधि ली। बहुत दिनों से इस देश में इतना बड़ा साम्राज्य स्थापित न हुआ था, जितना बड़ा औरंगज़ेब के ज़माने में था—हिन्दुकुश से दक्षिण तक और समुद्र से समुद्र तक। औरंगज़ेब के मरते ही १७०७ ई० में उसके साम्राज्य के प्रान्त बिखर गए। मुगल-साम्राज्य इतिहास की कहानी बन गया।

उस काल पश्चिमी भारत में एक नई शक्ति का उदय हुआ जो इतिहास में मराठा-शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुई। शिवाजी ने महाराष्ट्र और दक्षिण के किसानों और नीची जाति के बाशिन्दों का संगठन कर एक मराठा राष्ट्र की नींव डाली जो निरन्तर प्रबल होता गया। शिवाजी ने अपने शासन की व्यवस्था अष्ट-प्रधानों की छाया में की पर शीघ्र ही उनका प्रधान ब्राह्मण-पेशवा प्रबल हो उठा और मराठा राष्ट्र का वह सर्वेसर्वा बन गया। मराठों की बढ़ती हुई शक्ति ने पश्चिम भारत और दक्षिण पर तो अपना अधिकार जमाया ही, राजपूताना और मध्य-देश पूर्व में बंगाल तक उन्होंने अपनी चौथ का आतंक फैलाया और एक बार दिल्ली और पंजाब के भी वे मालिक बन गए। पानीपत के मैदान में १८वीं सदी के बीच काबुल के अहमदशाह अब्दाली से लड़ाई में उनकी शक्ति आख़िर टूट गई।

धर्म और साहित्य

वैष्णव और शैव धर्मों का अब भी हिन्दू-समाज में बोल-बाला था

यद्यपि उनका रूखापन इस्लाम के प्रभाव से नरम पड़ गया था। वैष्णव-भक्त कवियों ने उस काल के जनविश्वास और संस्कृति का नया और उदार सुर अलापा। उनका आनन्दविभोर-चित्त सगुण विष्णु की आराधना में गा उठा। कृष्ण उनके गायन के केन्द्र हुए। उन्होंने समाज को प्रभावित किया और समाज की नई मान्यताओं ने स्वयं उनको। राज-रानी मीरा ने अपने पदों से जो मधुवर्षा की उससे सारा देश आप्लावित हो उठा। सूरदास की रागिनी जन-जन की जिह्वा पर विराजी। मीरा और सूर के पद जितने ही मधुर हैं उतने ही सरल हैं और सूर के बाल-गोपाल की लीलाओं के वर्णन तो मर्म को छू लेते हैं।

पर उस काल की सब से महान् विभूति, जिसकी गणना संसार के महान् से महान् कवियों में है, वह रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास थे। काशी के अस्सी घाट पर 'रामचरितमानस' लिखने के लिए आसन मारे उस गुसाईं की ऊँचाई को कोई न पा सका आज तक कोई नहीं। तुलसीदास ने काव्य अनेक लिखे, एक से एक मधुर, पर उनका रामचरितमानस हिन्दी काव्यमाला में आज भी सुमेरु का स्थान रखता है। वैष्णव काव्य रामचरितमानस के आरम्भ में शिव की स्तुति कर जहाँ उन्होंने कालिदास की प्राचीन परम्परा फिर से जगाई, वहाँ शैव और वैष्णव की परस्पर-विरोधी दुई को भी दबा दिया। देश में बहुत काल से समाज-विरोधी तत्व भर गये थे: वज्रयानी सिद्धों, ताँत्रिकों, कापालिकों, औघड़ों, नाथों आदि ने अपनी क्रिया से स्मृतियों की निष्ठा को कुचल दिया था, समाज के सारे प्रतिबन्ध टूट गये थे। तुलसीदास ने अपना वह रामचरितमानस प्रबन्ध लिखकर फिर से स्मार्तजीवन को प्रतिष्ठित किया, उदार दृष्टि से छुआ-छूत को सम्हाला और पारिवारिक—पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई—सौन्दर्य और संस्कृति की फिर से स्थापना की। यदि काव्य की व्यापकता उसकी श्रेष्ठता का भी सबूत हो तो इस देश में रामचरितमानस के बराबर सफल काव्य नहीं क्योंकि उसके प्रभाव की सीमायें देश-काल की परिधि पार कर गई हैं। उसने और उस महाकवि

के अन्य काव्यों ने संस्कृत के पूजा-सम्बन्धी ग्रन्थों को हटाकर, समझी जाने वाली बोली में लिखे अपने भक्ति-साहित्य को प्रतिष्ठित किया। तब का साहित्य जन-बोली में लिखा गया—ब्रजभाषा में, अवधी में।

अनेक मुसलमान कवियों ने भी तब ब्रजभाषा के साहित्य को अपनी कृतियों से भरा। रहीम ख़ानख़ाना ने उसी काल ब्रजभाषा में अपने दोहे और बरवै लिखे। पीछे अनेक मुसलमान कवियों ने—आलम और शेख ने, रसखान ने—उसे अपनी कृतियों से समृद्ध किया। अलंकार-शास्त्र के पंडित कवि केशव भी मुग़लकाल में ही बुन्देलखण्ड में हुए और अपना साहित्य रचा। उसके बाद ही रीतिकाल के कवियों ने अपने काव्य रचे; अधिकतर १८ वीं सदी में। चिन्तामणि, मतिराम और भूषण केशव की उस परम्परा को लेकर चले। मतिराम तो अत्यन्त मधुर कवि है और भूषण वीर रस का अप्रतिम गायक। बिहारी ने कुछ ही समय बाद सतसई के अपने प्रौढ़ दोहे रचे और देव ने अपनी कविता के चमत्कार दिखाये। सेनापति, घनानन्द और पद्माकर उसी परम्परा के अन्तिम छोर पर हुए जिन्होंने हिन्दी काव्य-जगत को अपनी रचनाओं का दान दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि अकबर अपने ज़माने से सदियों आगे था। जिस उदारता और सहिष्णुता से उसने त्रिविध धर्मों के साथ व्यवहार किया वह संसार में जाने हुए न थे। सीकरी में उसने सारे धर्मों के पंडितों को बुला कर उनके शास्त्रार्थ सुने और सारे धर्मों के निचोड़स्वरूप एक नए धर्म दीन-इलाही का आरम्भ किया। पर मुसलमान कठमुल्लों की शत्रुता के कारण वह धर्म न चल सका। हिन्दू और मुसलमान धर्मों के मूल तत्त्व तो उसमें थे ही, ईसाइयों और पारसियों के भी प्रेम और आचार का उसमें पुट था। दक्षिण-भारत में सदियों से ईसाई बसे हुए थे और अब तो यूरोप से भी अनेक इस देश में आ पहुँचे थे। अगली पीढ़ियों में बंगाल में जो उपद्रव उन्होंने शुरू किये उससे चिढ़कर शाहजहाँ को उन्हें दमन द्वारा सही राह पर लाना पड़ा।

कला

कला की दिशा में मुग़लकाल ने गज़ब की उन्नति की। भवन-निर्माण-कला, चित्र-कला, संगीत-कला आदि ने चोटी छू ली। मुग़ल ईरान के ज़रिये चीन की परम्परा लेकर इस देश में उतरे थे और उन्होंने कला को सभी प्रकार से उन्नत किया। जो इमारतें मुग़लों ने बनाई हैं उनकी दमख़म, उनकी बुलन्दी के साथ नज़ाक़त, उनकी ख़ूबसूरती और कहीं नहीं मिलती, न इस देश में न विदेश में। दिल्ली और आगरा उनकी कृतियों से भर गए। दोनों किले एक से एक सुन्दर थे, एक से एक शक्तिमान्। अकबर ने तो फ़तहपुर सीकरी में जो इमारतें बनवाईं, जो नायाब शहर खड़ा किया, उसका सानी कहीं नहीं। उसका बुलन्द दरवाज़ा संसार के दरवाज़ों में बुलन्द है। हुमायूँ का मकबरा जो उसने दिल्ली में बनवाया वह ताजमहल की तरह शिल्प का सुकुमार नमूना है। पर मुग़ल-काल का सब से महान् निर्माता तो शाहजहाँ था। उसने दिल्ली का किला, जामा और मोती मसजिद और उन सब से बढ़कर और संसार की इमारतों में सब से सुन्दर ताजमहल बनवाया। इनके अतिरिक्त सैकड़ों अद्भुत इमारतें उस युग की हैं जो मुग़लों की निर्माण-शक्ति का परिचय देती हैं।

चित्रकला में जो उन्नति उस काल हुई वह अजन्ता को छोड़ पहले कभी नहीं हुई थी। मुग़ल क़लम की ताजगी और नज़ाक़त अपने देश में अनजानी थी और उसने यहाँ आकर ऐसा रूप धारण किया जो उसके आधार ईरान में भी जाना न था। गुजरात में चित्र बनते रहे थे पर प्रायः भौंडे, और उन्हीं का सुथरा हुआ रूप राजस्थानी चित्रकला में निखरा। पर राजस्थानी क़लम को भी मुग़ल-क़लम ने अपने जादू के स्पर्श से चमका दिया। राग और रागिनियों तक के चित्र बना डाले गए और इस प्रकार बहती हुई ध्वनि को रंग और रेखा की सीमा में पकड़ कर बाँध दिया गया। अकबर के जमाने में संस्कृत से जो अनेक फ़ारसी अनुवाद हुए उनको हज़ारों चित्रों से सजा दिया गया। और उन चित्रों

के बनाने में हिन्दू चित्रकारों का हाथ अधिक था, मुसलमान चित्रकारों का कम। जिस कौशल से बसावन कागज़ पर अपनी कूँची फेरता था, वह मुसलमान चित्रकारों को नसीब न थी, पर गौरव इसमें अकबर का है जिसने उसे ढूँढ़ निकाला। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय मुग़ल-चित्रकला अपने चरम विकास को पहुँच गई। जहाँगीर तो अँग्रेज़ों के लाए चित्रों को रातभर अपने पास रख उसी बीच अपने चित्रकारों से उनकी नक़ल करा जो पास-पास अँग्रेज़ों के सामने सुबह रख देता तो वे असल और नक़ल में पहचान नहीं कर पाते।

औरंगज़ेब को ललित-कलाओं से कोई दिलचस्पी न थी। इससे उसके पूर्वजों की चलाई मुग़ल चित्र-परम्परा टूट गई। पर दिल्ली के उजड़े चित्रकारों को राजपूताने और हिमालय की रियासतों में शरण मिली। जैसे मुग़ल-शिल्पियों ने जयपुर आदि के राजमहल बनाकर उन्हें मुस्लिम शैली से विभूषित किया था, वैसे ही दिल्ली के टूटे चित्रकारों ने जयपुर आदि में मुग़ल-कलम से प्रभावित देशी चित्रों के क्षेत्र में नई पौध लगाई। उधर हिमालय की रियासतों में भी उसकी बेलें रोपी गईं और जम्मू, बसोली, काँगड़ा आदि की पहाड़ी शैली में हज़ारों चित्र बने। दक्षिण, पटने, लखनऊ आदि में भी उसकी शाखाएँ फूटीं।

संगीत ने मुग़ल-काल में और भी लम्बे डग भरे। अनेक नए राग, अनेक तर्ज़ और गाने के तरीके देश में फैले। अकबर संगीत का अमर संरक्षक था। उसके पहले ही ग्वालियर में राजा मानसिंह की संरक्षा में बैजू बावरा ने ध्रुपद को साधा था और अब तानसेन ने उसे अपने जादू भरे स्वर का योग दिया। अकबर के नवरत्नों में से वह एक था। संगीत की उस काल बड़ी मर्यादा बढ़ी और उसकी नयी खोजों ने राग को आकर्षक बनाया। अन्य ललित-कलाओं की भाँति जब औरंगज़ेब ने संगीत के प्रति भी उदासीनता दिखाई तो गाने और नाचने वाले लोग दूसरी छोटी रियासतों में चले गए। ग्वालियर पहले से ही संगीत का केन्द्र रहा था, अब लखनऊ और रामपुर भी हुए। पिछली पीढ़ियों में

इधर रामपुर के नवाब की संरक्षा में जितनी स्वर-साधना हुई है, उतनी शायद कहीं और नहीं हुई। संगीत के क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों ने कभी किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखा। हिन्दू मुसलमान गुरु के चेले हुए, मुसलमान हिन्दू गुरु के। वीणा आदि के कठिन बाजों पर भी मुसलमान कलावन्तों ने गज़ब का अधिकार कर लिया। इधर के दिनों में तो हिन्दू-संगीत की जितनी सेवा मुसलमान आचार्यों ने की है, उतनी हिन्दू भी न कर सके।

देश-प्रेम

वैसे तो देश-प्रेम की परम्परा इस देश में कभी अनजानी न थी और समय-समय पर इसके बाँके लड़ाकों ने सदा देश के प्रति अपना ऋण अपने बलिदानों से चुकाया, पर मुग़ल-काल में, उसके आदि और अन्त में, लगातार उस दिशा में कुर्बानियाँ हुईं। राणा साँगा जो कनवाहे में हारा तो घर न लौटा, उसने प्राण ही त्याग दिए। राणा प्रताप ने आज़ादी के जिस झंडे को उठाया, हज़ार मुसीबतों के शिकार होते भी मरते दम तक उसे न छोड़ा और हमारे लिए उसके बलिदान आदर्श बन गए। औरंगज़ेब के शासन-काल में सिक्ख लड़ाकों, राजपूतों, बुन्देलों और शिवाजी ने जिस चरित का प्रसार किया, वह इतिहास में अमर हो गया। उस काल के साहित्यकार भूषण ने भी अपनी ओजस्विनी वाणी में उस देश-प्रेम को जाग्रत कर न केवल राजपूत चारणों की परम्परा जारी रखी, वरन् अपनी वाणी को उससे पवित्र भी किया।

सोलहवाँ अध्याय

आधुनिक युग

आधुनिक युग से हमारा तात्पर्य अँग्रेज़ों के उस युग से है, जिसका आरम्भ १८वीं सदी के साथ हुआ। मुग़लों के युग में ही अकबर के शासन-काल से ही अँग्रेज़ और दूसरे यूरोपीय माँझी और व्यापारी भारत के समुद्र-तट पर मँडराने लगे थे। यूरोपीय देशों से भारत का व्यापार-सम्पर्क तो बहुत पुराना है, पर जो नई जातियाँ समुद्र की सतह पर अब मँडराने लगी थीं, उनकी मन्शा केवल व्यापार की सुविधाओं तक ही सीमित न थी। वे इस देश पर साम्राज्य क़ायम करने के स्वप्न भी देखने लगी थीं।

मुग़ल-शक्ति के सामने उनकी एक न चली और पुर्तगालियों को शाहजहाँ ने पूर्वी बंगाल में जो चोट दी, उससे वे फिर न उठे, वरना एक लम्बे काल से गुजरात और काठियावाड़ के सुल्तानों की नाक में दम कर रखा था। धीरे-धीरे राजाओं की कृपा से इस देश में उनके पैर जमे। पुर्तगाली और डच तो आगे की मुसीबतों से घबरा कर लौट गए, पर अँग्रेज़ और फ्रांसिसी यहाँ बने रहे। पहले तो वे यहाँ के राजाओं की आपसी झगड़ों में मदद कर आपस की दुश्मनी साधते रहे, बाद में उनके परस्पर के युद्ध खुल्लम-खुल्ला होने लगे और अँग्रेज़ों ने फ्रांसीसियों को मार भगाया। उनकी व्यापार-सम्बन्धी ईस्ट इंडिया कम्पनी इस देश में कायम हो ही चुकी थी, अब धीरे-धीरे देश के अनेक भागों पर उनकी हुकूमत भी फैल चली। १७५७ में प्लासी की लड़ाई से उन्होंने बंगाल को जीत लिया और १७६५ में बक्सर की लड़ाई के बाद बंगाल और

बिहार की दीवानी भी उन्हें मिल गई। दक्षिण में वे मराठों और निज़ाम को एक-दूसरे से लड़ाते-जुझाते रहे थे और अब उसके एक बड़े हिस्से के मालिक भी हो गए थे। अब तक वे खुलकर इस देश में राजशक्ति के रूप में जम गए थे। धीरे-धीरे उन्होंने एक के बाद एक देशी रियासतों को हड़प लिया।

बंगाल के व्यापार में जो उन्होंने खास सूरत पैदा कर दी, उसने वहाँ की जनता को बरबाद कर दिया। अब तक जितनी भी जातियाँ इस देश में आई थीं वह अपनी जड़ें उठाए हुए आईं और उठायी हुई पौधे की तरह अपनी जड़ों के साथ वे इस मुल्क की ज़मीन में लग गईं। फिर उन्होंने इससे अलग कोई दूसरा मुल्क न जाना। नतीजा यह हुआ कि वे हमारी संस्कृति में घुल-मिल गईं और कि उन्होंने अपने योग से हमारी संस्कृति को शक्ति दी और उसकी काया को नये अलंकारों से सजाया। उससे भी बड़ी जो बात थी वह यह कि यहाँ की धन-दौलत उन्हें कहीं ढोकर नहीं ले जानी थी। पर अंग्रेज़ दूसरी तरह के थे। उनकी जड़ें समुद्र पार थीं और समुद्र पार ही यहाँ का सब कुछ ढो ले जाने के लिए वे आये थे और ढो भी ले गए। दूसरी जातियों ने हमारी कलाओं को बढ़ाया था और अंग्रेज़ों ने हमारे बंगाल के कलावन्तों के अंगूठे काट लिए। शुरू में ही कहा जा चुका है कि जिस आदमी के पास जंगल के सींग, पंजों और दाढ़ों वाले जानवरों से हमला करने को प्रकृति ने कोई हरबा हथियार न दिया था, उसे दिमाग के साथ-साथ चारों उंगलियों के बराबर और सामने उसे एक अंगूठा दे दिया था। उसी अंगूठे से इन्सान ने बैल-गाड़ी से एटमबम्ब तक बनाया और दुनिया ने जितनी तरक्की की वह सब उसी अंगूठे की बदौलत। और एक दिन अंग्रेज़ों ने बंगाल का अंगूठा काट डाला। रोमन छैलों और महिलाओं ने जिस 'मकड़ी के जाले' के बदले कभी अपनी देह बेच दी थी और जिसकी अनेक परतों के बावजूद बदन की लुनाई साफ चमक उठती थी वह ढाका की मलमल अब कहने की कहानी रह गई। गरज कि अंग्रेज़ों ने वह आधार ही तोड़

दिया जिसके ऊपर हिन्दुस्तान के हज़ारों साल पुराने व्यापार और उद्योग-धन्धे टिके थे।

धीरे-धीरे अंग्रेज़ों ने पंजाब पर भी अधिकार कर लिया। दिल्ली के बहादुरशाह का तख़्त तो कब का छिन गया था, अब बारी-बारी पेशवा, अवध के नवाब और झाँसी की रानी के हकों पर भी चोट की गई। अवध की बेगमों पर किये गए अत्याचार तो इतिहास-प्रसिद्ध हो गए हैं। कम्पनी के अधिकारियों में—किरानी से गवर्नर जनरल तक—गज़ब का भ्रष्टाचार फैल गया था। दरिद्र किरानी इस देश से रिश्वत आदि से मालामाल होकर स्वदेश लौटते थे।

जनता सारे देश में, विशेषकर उत्तर भारत में, गुस्से की आग दबाए बैठी थी, वैसे ही उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि के रजवाड़े भी, और सब मौके की राह देख रहे थे। मौका हाथ आ भी गया। नई बन्दूक सेना को जो दी गई उसे इस्तेमाल करते समय दाँत लगाना पड़ता था। हिन्दू-मुसलमान दोनों सैनिकों को मालूम हुआ कि उसमें गाय और सुअर की चर्बी लगी है। दबी आग भड़क उठी और उत्तर-प्रदेश के आस-पास सूबों में बग़ावत का झंडा खड़ा कर दिया गया। मेरठ, दिल्ली, आगरा, झाँसी, कानपुर, कालपी, लखनऊ, फ़ैज़ाबाद, जौनपुर, इलाहाबाद, बनारस, आज़मगढ़, बलिया, आरा आदि पर फ़ौजियों ने कब्ज़ा कर लिया। हिन्दू सेना और जनता का नेतृत्व नाना साहब, झाँसी की रानी, ताँत्याटोपे, बहादुरशाह, मौलवी अहमदशाह और कुंवरसिंह कर रहे थे। इन में झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई की बहादुरी और सेनापतित्व की अंग्रेज़ों ने भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सन् सत्तावन के उस ग़दर में नौसिखुए सिपाहियों और अभ्यस्त जनरलों के बीच जो लड़ाई हुई वह कुछ मामूली न थी। सही, वह बगावत दबा दी गई पर उसने आने वाली पीढ़ियों पर अपना प्रभाव डाला। हिन्दुस्तान की हुकूमत गवर्नर-जनरल और कम्पनी के डायरेक्टरों से पार्लमेण्ट के हाथ चली गई और क्वीन विक्टोरिया भारत की राजेश्वरी बनी। सन् ८४-८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की

नींव पड़ी पर उसकी माँगें बहुत मामूली थीं। उसकी असली माँगें 'होमरूल-आन्दोलन' के साथ शुरू हुईं और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के जेल जाने से वह आन्दोलन और भी ज़ोर पकड़ चला। उत्तर-भारत, विशेषकर बंगाल में आयरलैंड और इटली के षड्यन्त्र-कारियों की भाँति भारत की आज़ादी के लिये गुप्त सशस्त्र आन्दोलन शुरू हो गए थे, जो आज़ादी मिलने के पहले तक चलते रहे। बड़ी जानें बलिदान हुईं पर कुछ नतीजा न निकला। सन् १९२० में असहयोग आन्दोलन चला और महात्मा गाँधी ने सत्य और अहिंसा को जनता का अस्त्र बनाया। देश की जेलें भर गईं, स्कूल, कालेज और कचहरियाँ ख़ाली हो गईं। काँग्रेस के आन्दोलन कभी लग़ान-बन्दी, कभी नमक-सत्याग्रह के रूप में चलते ही रहे और जब सन् १९४२ में सरकार ने काँग्रेस की कार्य-कारिणी समिति को पकड़ लिया तो देशव्यापी आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ गया। महासमर चल रहा था। अंग्रेज़ों ने प्रतिहिंसा में गाँव के गाँव जला डाले। लड़ाई सन् १९४५ में बन्द हुई और जब अंग्रेज़ सरकार भारतीयों को स्वराज्य देना न रोक सकी, तब उसने देश का बँटवारा कर दिया और हिन्दू-मुसलमानों को आपस में लड़ा दिया। जिन हिन्दू-मुसलमानों ने सन् १८५७ से लगातार कन्धा-ब-कन्धा खड़े होकर अपना रक्त बहाया था वे अब एक-दूसरे का गला काटने लगे। लाखों जनता पंजाब से उखड़ गई, लाखों बँगाल से। १९४७ में भारत सर्वथा स्वतंत्र हो गया पर साल भर बाद देश को आज़ादी दिलाने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को एक कठमुल्ले हिन्दु ने गोली मार दी। आज़ादी की खुशी पर मातम छा गया।

समाज

वैष्णवों और समाज-सुधारकों ने जो सुधार शुरू किये थे उनकी प्रगति बनी रही। तीन विशेष आंदोलन इस काल देश में चले जिन्होंने समाज के बौद्धिक जीवन को बहुत प्रभावित किया। एक तो उनमें ब्रह्म-समाज था, दूसरा थियासोफ़ी और तीसरा आर्यसमाज। बंगाल में राजा

राममोहनराय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने रूढ़िवादिता के प्रति विद्रोह किया और बाल तथा वृद्ध-विवाहों के विरुद्ध और विधवा-विवाह के अनुकूल प्रचार किया। देश में विश्वविद्यालय भी स्थापित हो चले थे और ऊपर के वर्गों में जो थोड़ा पश्चिमी सभ्यता का प्रचार हुआ तो इस आंदोलन को और बल मिला। ब्रह्मसमाज का आंदोलन भी उसके बाद ही बंगाल में चला और उपनिषदों आदि का प्रचार फिर से हुआ, और वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध अनेक लोग खड़े हो गए। केशवचन्द्र सेन और देवेन्द्रनाथ टैगोर इस नए आंदोलन के नेता थे। थियासोफ़ी उन विदेशी चिन्तकों से प्रभावित आंदोलन था जो इस देश की प्राचीन सभ्यता और ऋषियों को आदर से देखते थे। उन्होंने विश्वबन्धुत्व का नारा लगाया और सारे धर्मों के निचोड़ से थियासोफ़ी को सिरजा। एनिबेसेंट और अरंडेल आदि उस आंदोलन के नेता थे। सर सैयद-अहमदखाँ ने मुसलमानों में शिक्षा आदि का आंदोलन चलाकर उन्हें सामाजिक तौर पर जाग्रत किया। आर्यसमाज का आंदोलन इन सब में प्रबल था। जहाँ दूसरे आंदोलन अधिकतर केवल सामाजिक थे, आर्य-समाज ने राजनीतिक रूप भी एक अंश में धारण किया और यदि कांग्रेस का आंदोलन न चला होता तो निश्चय आर्यसमाज के सुधारवाद ने स्वयं राजनीतिक आंदोलन का रूप धारण कर लिया होता। उसके मादक-द्रव्यों, छुआ-छूत आदि के विरोध को स्वयं कांग्रेस ने अपने कार्य-क्रम में लिया। आर्यसमाज का नेतृत्व निर्भीक संन्यासी स्वामी दयानन्द ने अपने हाथ में लिया। दयानन्द को अन्धविश्वासों, मूर्तिपूजा आदि से घृणा थी और बड़े साहस से उन्होंने उन सब का विरोध किया। बंगाल का सारा आंदोलन इस आंदोलन के कार्यक्रम में सिमट कर आ गया। साथ ही जो स्वामी ने प्राचीन भारतीय गौरव को लौटा लाने का सर्वत्र प्रचार किया तो लोगों की आस्था वेदों और अपने प्राचीन गौरव में जगी और लोग अपने अतीत और प्राचीन इतिहास के प्रति जागरूक हुए। प्राचीन विषयों का अध्ययन तो अँग्रेजों ने ही प्रायः सौ बरस पहले

शुरू कर दिया था, पर अब उसे एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण मिला।

साहित्य

साहित्य-निर्माण का सिलसिला चलता रहा। मीर, सौदा, ग़ालिब, ज़ौक़, इन्शा अल्लाखाँ आदि ने उर्दू में गज़ब की खूबसूरत शायरी की और हाली ने तो समाज की कुरीतियों के विरुद्ध भी कविताएँ लिखीं। नज़ीर ने अपनी ज़बान को आमफ़हम बना दिया। हिन्दी की परम्परा भी बढ़ चली और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य का स्तर ऊँचा रखते हुए हिन्दी नाटकों का आरम्भ किया और बड़ी निर्भीकता से अँग्रेज़ी राज्य की कुरीतियों की ओर उँगली उठाई। गुजराती, मराठी और बँगला में भी एक से एक साहित्यकार उत्पन्न हो चुके थे जिन्होंने अपना-अपना साहित्य समृद्ध किया। उत्तर-भारत की सारी भाषाओं में अग्रणी उस समय बंगला थी। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे और भारत को 'वन्देमातरम्' का जन-गान दिया; माइकेल मधुसूदनदत्त ने मधुर काव्य लिखे, शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अत्यन्त मर्मग्राही सामाजिक उपन्यास लिखे और अन्त में संसार के साहित्य में भारत का सिर ऊँचा करने वाले महान्-कवि और निबन्धकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्हीं का लिखा 'जन मन गण...' आज हमारा राष्ट्रगीत है।

बंगला का सब से अधिक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा। हिन्दी के छायावाद को बँगला और अँग्रेजी की रोमैंटिक कविताओं से प्रेरणा मिली। हिन्दी में पहले राष्ट्रीय चेतना के अनुकूल ही द्विवेदी-युग में कविताएँ लिखी गईं। फिर छायावाद के बाद उत्कट सामाजिक भावना को लिये प्रगतिवादी साहित्य का उदय हुआ। प्रेमचन्द ने अत्यन्त सुन्दर सामाजिक उपन्यास लिखे। हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हुई।

कला

१६ वीं सदी के बीच यूरोपीय चित्रकला का प्रभाव बम्बई और

मालाबार के चित्रकारों पर पड़ने लगा और अत्यन्त बदसूरत पूर्वी-पश्चिमी शैली के घुले-मिले चित्र तैयार होने लगे। कुछ ही काल बाद जब अजन्ता के चित्र दुनियाँ के सामने आए तब भारत के प्राचीन गौरव और कला के प्रति लोगों का गर्व जगा। एक राष्ट्रीय आन्दोलन ही उस दिशा में चल पड़ा और अवनीन्द्रनाथ टैगोर उसके सूत्रधार हुए। अवनीन्द्रनाथ का आन्दोलन उनकी कलाकारिता से कहीं महान् था और वह शीघ्र देशव्यापी हो उठा। उनके शिष्यों ने अजन्ता की शैली का अनुसरण किया और बंगाल में विशेषकर उस शैली के चित्र बनने लगे। बम्बई के चित्रकारों पर पश्चिम की कला का भी प्रभाव पड़ा और प्रभाववादी कला ने रूप धारण किया। कुछ दिनों से गाँवों की दरिद्रता की ओर भी कलाकारों का ध्यान गया है और सामाजिक यथार्थवाद के वज़न पर चित्र बनने लगे हैं। मूर्ति-कला ने तो अपनी प्रगति सदियों पहले बन्द कर दी थी। पर इधर उस दिशा में भी कुछ अच्छे प्रयास हुए हैं। संगीत का भी पुनरुद्धार हो चला है और जगह-जगह उसके कालेज खुल गए हैं। नाचने और गाने को लड़कियों के शिक्षण में भी अब स्थान मिला है।

नई संस्कृति

नई संस्कृति अंग्रेज़ों के सम्पर्क का परिणाम है। अंग्रेज़ों ने देना तो कुछ न चाहा पर हमने उनका श्रेष्ठतम रूप प्रतिभा से उनके देश से खींच लिया। उन्होंने तो यहाँ विश्वविद्यालय केवल इसलिए बनवाए थे कि उनमें उनके लिए भारतीय क्लर्क तैयार हों, पर हमने वहाँ उनका सारा साहित्य और उनके जरिये पश्चिम का सारा साहित्य मथ डाला। मथ कर उसका अमृत ले लिया। आज हमारा साहित्य उनके साहित्य से गहरा प्रभावित है। उनकी राजनीति, उनका ज्ञान, विज्ञान सब कुछ आज हमारा उपकार कर रहा है। आज के जीवन के सुख-दुःख के सारे साधन उद्योग, कल-कारख़ाने, डाकखाना, तार, पत्र, बिजली, रेल, हवाई जहाज़ सब कुछ उन्होंने हमें दिए हैं और हमने अपनी संस्कृति के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है, जिसका हमें गर्व है।

अंग्रेजों ने हमें फिर भी काफ़ी कुछ दिया है। उनके पंडितों ने हमारा साहित्य, हमारा इतिहास, हमारा गौरवमय अतीत और हमारा अशोक खोज कर हमें दिया है और हम उनके प्रति वैसे ही ऋणी हैं जैसे उन जातियों के प्रति उन्होंने समय-समय पर हमारी संस्कृति की काया सिरजी।